स्वभाव बोध मार्तण्ड

आचार्य श्री सूर्यसागर

स्वभाव बोध मार्तण्ड

आचार्य श्री सूर्यसागर

आचार्य श्री 108 सूर्यसागर जी महाराज का जीवन परिचय

श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज का जन्म कार्तिक शुक्ल नवमी, शुक्रवार विक्रम सम्वत् 1940 (ई. सन् 1883) ग्वालियर रियासत के शिवपुर जिलान्तर्गत प्रेमसर नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री हीरालाल व माता का नाम गेंदाबाई था। आप पोरवाल दिगम्बर जैन जाति के यसलहा गोत्र में उत्पन्न हुए थे।

गृहस्थाश्रम में आपका नाम हजारीमलजी था। हीरालालजी के सहोदर भाई श्री बलदेवजी के कोई संतान नहीं थी, अतः हजारीमलजी उनके दत्तक हो गये। बलदेवजी की धर्मपत्नी का नाम भूलाबाई था। बलदेव जी झालरापाटन में अफीम की दलाली करते थे। हजारीमलजी बाल्यावस्था में ही झारलापाटन आ गये और वहाँ ही उन्हें सामान्य शिक्षा प्राप्त हुई। दुर्भाग्यवश वि. सं. 1952 में जबकि हजारीमलजी बारह वर्ष के ही थे, बलदेवजी की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद हजारीमलजी का पालन-पोषण झालरापाटन के प्रसिद्ध सज्जन नाथूरामजी जोरजी राव के द्वारा हुआ। ये बलदेवजी के परम मित्र थे। परिस्थितिवश हजारीमलजी को विशेष शिक्षा प्राप्त न हो सकी और छोटी अवस्था में श्री शिवपुर

जिले के मेवाड़ ग्राम में ओंकारमलजी पोरवाल की सुपुत्री मोताबाई के साथ विवाह भी हो गया। इसके कुछ दिनों बाद हजारीमलजी इन्दौर चले गये और वहाँ आपने राव राजा सर सेठ आदि अनेक पद विभूषित श्री हुकुमचन्दजी के यहाँ तथा बाद में स्वर्गीय सेठ कल्याणमलजी के यहाँ नौकरी की, किन्तु आपको नौकरी करना पसंद नहीं आया। स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना ही आपने अच्छा समझा और एक कपड़े की दुकान इन्दौर में ही कर ली। साथ में कपड़े की दलाली भी करते रहे। इससे आपकी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक रही।

आपके कई संतानें हुईं। उनमें श्री शिवनारायणजी एवं समीरमलजी दो पुत्र अब भी मौजूद हैं, जो इन्दौर में ही कपड़े का व्यवसाय करते हैं।

हजारीमलजी की बाल्यावस्था से ही धर्म की ओर बहुत रुचि थी। शास्त्र स्वाध्याय, पूजन प्रक्षाल, सामायिक आदि में आप बचपन से ही काफी समय लगाया करते थे। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती गई, धर्म की ओर आप अधिकाधिक झुकते गये। भाग्यवश आपको धर्मपत्नी भी ऐसी ही मिली, जो धार्मिक चर्चाओं को अच्छी तरह समझती और गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय करती थी। इससे आपको ज्ञानवृद्धि में काफी सहायता मिली, पर दुर्भाग्यवश यह सहयोग बहुतकाल तक न रहा। विक्रम संवत् 1972 में

आपकी पत्नी का देहान्त हो गया। पत्नी वियोग के पश्चात् संसार, शरीर और भोगों से आप उदासीन रहने लगे और हृदय में वैराग्य-मय जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा बढ़ने लगी। संवत् 1981 का वर्ष था। एक दिन रात्रि के समय श्री हजारीमलजी को यह स्वप्न आया कि जलाशय में एक तख्ते पर बैठा हुआ कोई आदमी उनसे कह रहा है कि चलो आओ, देर न करो। पर उसके आग्रह करने पर भी उन्होंने जलाशय में प्रवेश नहीं किया। तब उस आदमी ने तख्ते को किनारे पर लगाया और उनको किसी तरह तख्ते पर चढ़ाकर थोड़ी दूर जल में ले जाकर एक स्थान पर रखे पीछी-कमण्डल की ओर संकेत करके कहा इन्हें उठा लो, पर उन्होंने इनकार कर दिया। उस व्यक्ति के दो-तीन बार कहने पर भी जब उन्होंने पीछी कमण्डल नहीं उठाये और 'नहीं उठाऊँगा' यह कहते हुए ही बिस्तरों पर कुछ हटे तो पलंग पर से गिर पड़े।

यह सब स्वप्न था। कोई सच्ची घटना नहीं। फिर भी इस घटना ने हजारीमलजी के जीवन में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया और उनका संसार छोड़ने का विचार और दृढ़ हो गया। संयोगवश उस वर्ष संवत् 1981 में श्री शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) का चातुर्मास योग इन्दौर में ही था। हजारीमलजी को संसार से विरक्ति हो गई थी। फलस्वरूप आसोज शुक्ला षष्ठी, वि. सं. 1981 को श्री आचार्य शान्तिसागरजी महाराज (छाणी) के पाय आपने ऐलक दीक्षा ले ली। ऐलक हो जाने के बाद

इन्हीं हजारीमलजी का नाम सूर्यसागरजी रखा गया था। इसके 51 दिन पश्चात् मंगसर कृष्णा एकादशी को हाटपीपल्या (मालवा) में उन्हीं आचार्य शान्तिसागरजी के पास सर्व परिग्रह को त्यागकर आपने निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

मुनि-जीवन की दीक्षा के बाद स्वात्मोत्थान का विचार तो आपके सामने रहा ही, पर स्वेतर प्राणियों को किस तरह धर्म पर लगाना चाहिए, यह विचार भी आपके हृदय में सतत बना रहा और इसके अनुसार आपकी शुभ प्रवृत्तियाँ भी होती रहीं। आपके सदुपदेशों से अनेक स्थानों पर पाठशालाएँ, औषधालय आदि अनेक परोपकारी संस्थाएँ खुलीं। सैकड़ों स्थानों पर विनाशकारी संघर्ष मिटकर शान्ति स्थापित हुई जो झगड़े न्यायालयों से न मिट सके थे, जो पचासों वर्षों से समाज की शक्ति को क्षीण कर रहे थे। जिनमें हजारों रुपये नष्ट हो चुके थे, जिनको लेकर बीसों बार मारपीट और सिर फुटौव्वल तक हो चुकी थी, परस्पर पिता-पुत्र, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष आदि में जिनके कारण खूब लड़ाइयाँ चल रही थीं, परस्पर कुटुम्बियों में जिनके वजह से आना-जाना और मुँह से बोलना तक बंद था। ऐसे एक नहीं सैकड़ों व्यक्तिगत, सामाजिक पंचायत परोपकारी सम्बन्धित चौमूं, भिंड, जयपुर, टोंक, मुंगावली, दक्षुरई, चंदेरी, हाटपीपल्या टीकमगढ़, नेणवाँ, उदयपुर, सेपवारी, भीलवाड़ा, नरसिंहपुरा, डबोक,

साकरोदा, भादवा आदि सैकड़ों स्थानों में झगड़े आपके उपदेशामृत से शान्त हुए। इससे जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। जिन-जिन नगरों व ग्रामों में आपका पदार्पण हुआ है, शान्ति की लहर दौड़ गई है। यही वर्तमान मुनि-समाज में आपका आदरणीय स्थान है और सभी नवीन तथा प्राचीन विचार वालों की आपमें श्रद्धा है। जैन समाज में ही नहीं, जैनेतरो पर भी आपके उपदेशों का प्रभाव पड़ता है और फलस्वरूप वे प्रतिज्ञाएँ लेते हैं। कार्तिक शुक्ल नवमी वि.सं 1985 (सन 1928) कोडरमा, झारखण्ड मे आपको आचार्य-पद प्राप्त हुआ।

॥श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः॥

स्वभाव बोध मार्तण्ड

मंगलाचरण

(दोहा)

सब सिद्धों को नमनकर आतम सुगुण करण्ड।
भव्य जीव हितकारकं लिखूं बोध मार्तण्ड॥१॥
स्यादवाद वाणी नमों स्यात्पद चिन्हित जोई।
संशयतिमिर विध्वंस कूं मारतण्डवत होई॥२॥
परम दिगम्बर गुरु नमूं, आशा विषय विहीन।
स्वात्महितैषी अक्षजित, आतम में लवलीन॥३॥

सिद्धांत शास्त्र में आचार्यों ने कर्म के तीन भेद बतलाए हैं- (१) द्रव्यकर्म (२) भावकर्म (३) नोकर्म। मोटे रूप से द्रव्यकर्म के मूल भेद आठ प्रकार के बतलाए हैं जैसे- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय इन्ही के उत्तर भेद १४८ और आगे संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद बतलाए हैं। भाव कर्म भी- राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया,लोभादि के भेद से नाना प्रकार के कहे गए हैं। नोकर्म- तीन शरीर औदारिक (मनुष्य तिर्यंच का शरीर) वैक्रियिक (देव,नारकियों का शरीर) आहारक (छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि को तत्त्व विचार करते समय कोई संदेह होने पर उसके समाधान होने के लिये केवली या श्रुत केवली के दर्शनार्थ मुनि के दाहिने मस्तक से निकलने वाला पुरुषाकार पुतला जो श्वभ्र वर्ण का होता है आहारक शरीर कहलाता है ऐसे तीन प्रकार के शरीर और आहार-

शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छवास- भाषा और मन इन छह प्रकार की पर्याप्तिरूप होने वाले कर्म पुद्गल परमाणु नोकर्म कहे जाते है। ऐसे तीन तरह के कर्मों से रहित, स्वाभाविक आत्मगुणों के विरोधी ज्ञानावरणादि कर्मों के अभाव में अनंतज्ञानादि अनंत गुणों के भंडार, समस्त सिद्धों कूं नमस्कार करके " मुमुक्षु भव्य जीवों का कल्याण हो " इस भावना से इस आत्म प्रबोध मार्तंड नाम के ग्रंथ का सृजन करता हूँ। सो ये सृजन कैसा होगा जैसे कोई मालाकार (माली) किसी सुन्दर माला बनाने के लिये इधर उधर बिखरे हुए फूलों को एकत्रित कर माला बना देता है उसी तरह मैं भी परंपरागत पूज्य आचार्यों के प्रणीत वाक्यों को लेकर इस ग्रंथ का प्रणयन करता हूं। अपनी स्वेच्छा से मैं कुछ भी नहीं कहूंगा

हर एक संसारी जीव अनादि काल से कर्मों से प्रेरित होकर कर्मफल चेतना का आस्वादन करता हुआ घनाकार ३४३ राजू प्रमाण भवसागर में गोते लगाता हुआ महान आवागमन के दुखों से दुखी हो रहा है। इस जीव की सतत यही भावना बनी रहती है कि मैं किसी प्रकार भी ऐसा सुखी हो जाऊं जिसका कभी वियोग न हो, उस सुख के प्राप्त करने के लिये अपने क्षयोपशमिक ज्ञान के अनुसार प्रयत्न करता है, लेकिन उस प्रयत्न के करने में ही गलती हो जाती है, उसी से भावना के अनुसार सिद्धि नहीं कर पाता, सो ठीक भी है जिस कार्य का जो कारण होता है वह कार्य तो वैसे कारण के संयोग के मिलने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। सच्चे सुख के प्राप्त करने के लिये हमें वही कारण मिलाने चाहिये जिनके मिलने पर हमें सच्चा सुख मिल सकता है।

प्रश्न- अब सोचना तो ये है कि वे कौन से कारण हैं, जिनके मिलने पर सच्चा आत्मिक सुख मिल सकता है?

समाधान- जब तक इस जीव के पर पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना बनी रहेगी- उनके संयोग में सुखी और उनके वियोग में दुखी होने की कल्पना बनी रहेगी तब तक किसी प्रकार का स्थिर सुख मिल नहीं सकता है। क्योंकि ये तो घोर अज्ञान है कि जो पदार्थ अपने नहीं हैं उनको खीचातानी से अपना बनाया जाय, और ये भी निश्चित है कि जो चीज अपनी नहीं है वह किसी प्रयत्न से भी अपनी नहीं हो सकती है। जब वह अपनी नहीं होती तब आत्मा में नाना प्रकार के अशुभ विकल्प खड़े हो जाते हैं। जिनसे ऐसे अज्ञानजनक नवीन-नवीन कर्मों का संबंध होता है जिनके सद्भाव में आत्मा कभी अपने लक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। अत एव सबसे पहिले ऐसे सद्गुरुओं की संगति के मिलाने का यत्न करना चाहिये जो ऐसे आदर्श हों जिनमें हमारा प्रतिबिंब साफ साफ झलक सके "संगति तें गुण होत हैं दुःसंगति गुण जांय" बिना गुरु के सदुपदेश के सच्चा उपाय सूझता नहीं और बिना सच्चा उपाय किये सच्चा सुख मिलता नहीं। सद्गुरु ने ही बतलाया है कि संसार में दो द्रव्य का ही खेल हो रहा है (१) जीव (२) अजीव । अजीव द्रव्य पांच तरह का बतलाया गया है पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। इनमें ४ तो अरूपी हैं एक पुद्गल द्रव्य रूपी है। दृश्यमान जितने भी पदार्थ हैं सब पुद्गल ही पुद्गल हैं क्योंकि सब पदार्थ पुद्गल से ही बने हुवे हैं। शुद्ध पुद्गल तो परमाणु हैं और परमाणुओं के मेल से बनने वाले सूक्ष्म स्थूल पिंडरूप से दृश्यमान सभी पदार्थ हैं। कर्म भी पुद्गल हैं। इन्ही के संबंध से पर पदार्थों के संयोग वियोग की कल्पना में ये जीव उलझा हुआ है, इन्हीं

कर्मों के संयोग से जीव अज्ञानी बना हुवा है उसी अज्ञान से लक्ष्य भ्रष्ट हो रहा है, जिन आत्माओं ने इनसे पृथकता की है वह हमेशा को सुखी हो गये। वही सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धात्माएं तो केवल अपने गुण रूपी विभूति के अधिपति होते हैं वे परपदार्थों से जरा भी संसर्ग नहीं करते, इसी से वे कर्मों से तिरस्कृत नहीं होते। वे तो आत्मिक सुख का आस्वादन करते हुए सदा संतुष्ट रहते हैं, बड़े- बड़े विज्ञानियों ने ज्ञान नेत्र से उनके स्वरूप का अवबोध किया तब अन्य जीवों के उपकारार्थ उनके गुणों के वर्णन के साथ-साथ उनके स्वरूप का दिग्दर्शन कराया। जो कोई उन सरीखे बनने की भावना करते हैं उन्हें वैसे ही प्रयत्न करना चाहिये तभी उस तरह के बन सकते हैं। सबसे पहिले सद्गुरु के संयोग का उपाय मिलाओ, सद्गुरुओं के उपदेश की प्राप्ति का प्रयत्न करो, उपदेश की प्राप्ति से कर्तव्य का भान होगा उससे भेदविज्ञान होगा, जिससे पदार्थ के स्वभाव के यथार्थ जानकार हो सकोगे तभी सच्चा कल्याण होगा।

भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि भगवान के सम्मुख प्रार्थना करता है कि-

शरीरतः कर्त्तुमनन्त- शक्ति, विभिन्नमात्मानमपास्त- दोषम्।
जिनेन्द्र! कोषादिव खड्ग- यष्टिं,तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः॥

[श्री अमितगति - सूरि - विरचित 'भावना-द्वात्रिंशतिका' श्लोक २]

जैसे तमाम पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं उसी तरह अभिन्न सा दीखता हुआ यह शरीर भी भिन्न ही है क्योंकि ये भी पौद्गलिक है। जीव को जितना मोह पर पदार्थों से रहता है क्योंकि उनको वह कभी अपने से अलग नहीं देखना चाहता, उसी तरह शरीर से तो और भी अलग नहीं होना चाहता इस शरीर के लिये ही सब कुछ करता है, इसकी रक्षा के

लिये खाद्याखाद्य का कुछ भी विवेक नहीं करता, परन्तु ये शरीर इतना कृतघ्न है कि आखिर में धोखा दिये बिना नहीं रहता है। आयुकर्म के खिरते ही आप संबंध छोड़कर यहीं रह जाता है, एक मिनट भी साथ नहीं देता है, आत्मा को पर्यायान्तर में गमन अकेला ही करना पड़ता है। ऐसी हालत देखकर ज्ञानी भव्य भगवान से प्रार्थना करता है "हे भगवन् आपके प्रसाद से मुझमें उस शक्ति का विकास हो जिनमें अनंत शक्तियों के पुंज इस आत्मा को इस कृतघ्नी शरीर से उस तरह अलग कर लूं जैसे म्यान से तलवार अलग कर ली जाती है" शरीर से आत्मा को तभी अलग किया जा सकता है जब हम पूज्य आचार्यों के वचनों पर चलें। आचार्य वादीभ सिंह सूरी ने अपने क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में जीवंधर स्वामी के द्वारा भायी गई बारह भावनाओं के प्रकरण में आत्मा को संबोधन करते हुए बतलाया है कि हरएक आत्महितैषी को ऐसा विचारना चाहिये

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥७८॥

[आचार्य श्री वादीभ सिंह सूरी विरचित 'क्षत्र चूड़ामणि' (प्रथम लंब)]

अर्थ – मैं कौन हूं, मुझमें कौन २ से गुण हैं, मैं कहाँ का रहने वाला हूं, मुझे क्या प्राप्त करना है, जो कुछ प्राप्त करना है उसका निमित्त कारण क्या है? इस प्रकार का तर्क प्रतिदिन न किया जायगा तो बुद्धि उन्मार्ग में चली जा सकती है।

कर्तव्य मार्ग को बतलाते हुए पंडितप्रवर आशाधर जी सागार धर्मामृत में बतलाते हैं-

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय कृतपंच नमस्कृतिः
कोऽहं को मम धर्मः किं प्राप्यश्चेति परामृशेत्॥6॥

[पंडितप्रवर आशाधर जी विरचित 'सागार धर्मामृत' (छटा अध्याय)]

अर्थ- प्रत्येक प्राणी को ब्रह्ममुहूर्त- अर्थात् रात्रि समाप्त होने के दो घड़ी पहिले उठकर अपने इष्टदेव पंच परमेष्ठी के वाचक पंच णमोकार मंत्र का जाप कर ऐसा विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूं! मुझे इस मनुष्य भव को पाकर क्या करना है, मेरा क्या धर्म है? ऐसा विचार नित्य करना चाहिये ऐसा विचार करने से मनुष्य अपने कर्तव्य मार्ग से च्युत ना हो कर निराकुल सुख के सम्मुख होता है। क्योंकि आयु थोड़ी होती है और कर्तव्य कर्म बहुत होता है। संपूर्ण उम्र में तो कार्य किया नहीं जाता है। कार्य करने के विषय में एक विद्वान ने दर्शाया है कि-

आयुष अर्द्ध अरे मति मंद, व्यतीत भई तब नींद मंझारी।
अर्द्ध त्रिभाग जरापन यौवन, शैशव के वश व्यर्थ विसारी।
आतम में दृढ़ धार सुधी गह, ज्ञान असि मोहपास विदारी।
मुक्ति रमा रमणी वश कारण, हो दृढ़ नित्य सु सम्यकधारी॥

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ', श्लोक १६ का पद्यानुवाद- कवि मेहरचन्द]

अर्थ- हे आत्मन् बड़े शोक की बात है कि इस शरीर में रहते हुए तेरी आधी आयु तो सोते सोते बीत जाती है। बाकी आयु बालापन, बुढापा और युवावस्था ऐसी तीन विभागों की भिन्न-भिन्न दशाओं में बीत जाती है- अर्थात् बालापन में अज्ञानता की प्रधानता रहती जिससे ये अवस्था खेल कूद में ही बीत जाती है। युवावस्था विषयों

के सेवन, अर्थार्जन, रक्षण आदि में बीत जाती है, बुढापा जिसमें कोई भी इन्द्रिय काम नहीं देती शरीर क्षीण हो जाने से अशक्त हो जाता है, इस अवस्था में कुछ भी आत्महितैषी कार्य बन नहीं सकता, अब तू खुद निश्चय कर कि मनुष्य पर्याय पाकर क्या प्राप्त किया! इसलिये अब सचेत होकर मुक्ति रूपी स्त्री को बस में करने वाले दृढ़ सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर जिससे अनादि कालीन अपनी भूल का मार्जन हो सके हे प्राणी जिस शरीर पर तू निछावर हो रहा है जिसके भरण पोषण में दत्तचित्त रहता है उसके स्वरूप का तो विचार कर।

कविवर भूधरदास जी अपनी जैनशतक में बतलाते हैं कि-

(मत्तगयंद सवैया)

मात-पिता-रज-वीरज सौं, उपजी सब सात कुधात भरी है।
माँखिन के पर माफिक बाहिर, चाम के बेठन बेढ़ धरी है॥
नाहिं तौ आय लगैं अब ही बक, वायस जीव बचै न घरी है।
देहदशा यह दीखत भ्रात ! घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥२०॥

[कविवर भूधरदास जी विरचित 'जैनशतक']

अर्थ- हे भाई यह शरीर माता पिता के घृणित रज और वीर्य से उत्पन्न हुवा है, इसमें हाड़ मांस मज्जा मेदा खून वीर्य आदि सात कुधातुएं भरी हुई हैं, ऊपर से मक्खियों के पर की तरह चमड़े से घिरा हुआ है अर्थात् मढ़ा हुआ है। यदि इस चमड़े से मढ़ा हुआ न होता तो बगुले, कौए आदि जीव आकर नोंच-नोंच कर खा जाते एक, घड़ी के लिये भी नहीं बच सकता था, देह की तो ऐसी दसा है इसको देखते हुए भी तुम्हे इस देह से घृणा नहीं होती आश्चर्य है, तुम्हारी बुद्धि किसने हरण कर ली है?

कविवर बनारसीदास जी ने भाषा छंदोबद्ध नाटक समयसार में बतलाया है कि-

सुन प्रानी! सदगुरु कहै, देह खेह की खांनि।
धरै सहज दुख-दोषकौं, करै मोख की हांनि।। 39।।

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार)]

अर्थ- श्रीगुरु उपदेश करते हैं- हे जीव चित्त लगाकर सुन, यह देह तो खेद की खदान है, स्वभाव से दुख और दोषों को धारण करने वाली होकर मोक्ष से विमुख रखने वाली है। फिर कैसी यह देह है-

रेत-कीसी गढ़ी किंधौं मढ़ी है मसान-कीसी,
अंदर-अंधेरी जैसी कंदरा है सैल की।
ऊपर की चमक-दमक पट-भूषन की, धोखै
लागै भली जैसी कली है कनेल की॥
औगुन की औंडी महाभौंडी मोह की कनौडी,
माया की मसूरति है मूरत है मैल की।
ऐसी देह याही के सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमारी मति कोल्हू-कैसे बैल की॥

[कविवर बनारसीदासजी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार-छंद 40)]

अर्थ यह देह बालू (रेता) की गढी के समान अथवा श्मशान की मढ़ी के समान है, भीतर पर्वत का गुफा के समान अंधकारमय है। ऊपर की चमक दमक तो वस्त्र और गहनों में हो रही है, ये तो कनैर की कली के समान अत्यंत दुर्गंधित है, अवगुणों से भरी हुई है, अत्यंत खराब और कानी आंख के समान निकम्मी है, माया की समुदाय रूप तथा मैल की मूर्ति है। इस ही के प्रेम और संगति से हमारी बुद्धि

कोल्हू के बैल के समान हो रही है, जिससे संसार में सदा भ्रमण करना पड़ता है। फिर कहते हैं-

ठौर-ठौर रकत के कुंड केसनि के झुंड,
हाड़निसौं भरी जैसैं थरी है चुरैल की।
नैकु-से धका-के लगै ऐसै फटि जाय मानौ,
कागदकी-पूरी किधौं चादरि है चैल की॥
सूचै भ्रम-वांनि ठानि मूढ़निसौं पहचांनि,
करै सुख-हानि अरु खांनि बदफैल की।
ऐसी देह याही के सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमरी मति कोल्हू कैसे बैल की॥

[कविवर बनारसीदासजी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार-छंद 41)]

अर्थ- इस देह में जगह-जगह रक्त के कुंड और बालों के झुंड हैं, यह हड्डियों से भरी हुई है, मानों चुडैलों का निवास स्थान ही है! जरा से धक्का लगने से ऐसे फट जाती जैसे कागज की पुड़िया अथवा कपड़े की पुरानी चद्दर, यह अपने अस्थिर स्वभाव को प्रगट करती है। पर मूर्ख लोग इससे स्नेह लगाते है, यह सुख की घातक और बुराइयों की खानि है। इस ही के प्रेम और संगति से हमारी बुद्धि कोल्हू के बैल के समान संसार में चक्कर लगाने वाली हो गई है। इस प्रकार के घिनावने शरीर को देखकर भी तुम्हे अपने आत्म कल्याण करने में रुचि क्यों नहीं होती है? और भी कहते हैं सो सुनो- सबसे पहिले मनुष्य को ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि ये शरीर की छाया तो अपनी ही है, जब तुम अपनी ही छाया पर मुग्ध होकर उसके पीछे पीछे दौडोगी तब वह छाया तुम्हारे हाथ तो न आवेगी प्रत्युत वह आगे आगे भागी ही चली जावेगी। जब तुम्हारा ये विचार हो जावेगा कि

हमें इस छाया से कोई प्रयोजन नहीं है, उसका पीछा छोड़ कर पीछा लौटकर आने लगोगे तब वही छाया तुम्हारे पीछे पीछे स्वयमेव दौड़ी आवेगी। उसी तरह हम जिस समय इन पर पदार्थों को प्राप्त करनेके लिये इनके पीछे- २ दौड़ेंगे तब ये पदार्थ हमसे दूर- २ ही भागेंगे जब हम इनका पीछा छोड़ देंगे तो ये हमारे पीछे दौड़ेंगे। विचार इतना ही होना चाहिये कि हमें इन पदार्थों के पीछे दौड़ने पर और इनके मिल जाने पर भी ये हमारे बनकर रह सकेंगे या नहीं? पुण्य पाप के उदयानुसार ही इनका संयोग वियोग बनता है। हमारे चाहने मात्र से पदार्थों का संयोग वियोग नहीं बनता है। इसलिये इनके प्राप्त करने की अभिलाषा ही व्यर्थ है, इस फंदे में न पड़ कर अपने स्वरूप के पहिचानने और उसके ग्रहण करने में तत्पर होना चाहिये। अये आत्मन् तुझे ये ध्यान नहीं है कि मैं और मेरा स्वरूप क्या चीज है। मैं अब तेरे स्वरूप को नीचे के छंद से बतलाता हूं सो ध्यान में लेकर उसका अनुभव कर-

(सवैया मत्तगयन्द)

चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्ध-समान सदा पद मेरौ।
मोह-महातम आतम-अंग, कियौ पर-संग महातम घेरौ।।
ग्यानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिव-मारग, वैगि मिटै भव-वास-बसेरौ।। 11।।

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार']

अर्थ- मेरा स्वरूप सदैव चैतन्य रूप उपमा रहित और निराकार सिद्धों के समान ही है, परन्तु अनादि काल से मोह के महा अन्धकार का सम्बन्ध होने से अन्धा बन रहा था। अब मुझे ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई है इसलिये आत्मा के नाटक की आख्या गुणों के रूप में

कहता हूं, जिसके प्रसाद से मोक्ष मार्ग की सिद्धि हो और जल्दी से जल्दी संसार का निवास अर्थात जन्म मरण का संबंध छूट जाय।

भाव ये हैं कि हर एक आत्मा को ऐसा विचार करना चाहिये कि द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो मेरा रूप तो शुद्ध चैतन्यरूप चिच्चमत्कार मात्र है, सिद्धों के समान है, तीन लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा आत्मा के स्वरूप से दी जा सकती हो, इसको अनादि काल से संबंधित मोह ने घेर रक्खा है जिसमें विह्वल होकर अपने रूप को भूल गया है लेकिन अब मेरी ग्यान कला जागृत हो चुकी है इसलिये अब मैंने समझ लिया कि आत्मा और परमात्मा में यदि भेद है तो इतना ही कि सामान्य रूप से आत्मा शब्द तो संसारी जीव के लिये प्रयुक्त होता है जो सब तरह के कर्मों से लिप्त रहता है और परमात्मा उस आत्मा को कहते हैं जो कर्म कालिमा से रहित होकर निज शुद्ध स्वरूप में अवस्थित है। वास्तव में स्वरूप की दृष्टि से दोनों में कोई फरक नहीं है। एक विद्वान ने कहा है कि संसारी और मुक्त में इतना ही भेद है कि-

(सवैया इकतीसा)

जगत के निवासी जग ही मैं रति मानत हैं,
मोख के निवासी मोख ही मैं ठहराये हैं।
जग के निवासी काल पाय मोख पावत हैं,
मोख के निवासी कभी जग मैं न आये हैं।
एतौ जगवासी दुखवासी सुखरासी नाहिं,
वे तो सुखरासी जिनवानी मैं बताये हैं।
तातैं जगवास तैं उदास होइ चिदानंद,
रत्नत्रय पंथ चलैं तेई सुखी गाये हैं॥73॥

[पण्डित प्रवर द्यानतरायजी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

अर्थ- जो जीव संसार मार्ग में चलते हुए साताकर्म के उदय से थोड़ा सा सुखाभास का अनुभव करते हैं, वे संसार में रहने से ही आनंद मानते हुए संसारी है परन्तु जो जीव समस्त कर्मों की श्रृंखला को काटकर हमेशा को मोक्ष में रहने वाले हैं वे मोक्ष के जीव हैं। संसारी जीव काललब्धि का निमित्त पाकर कर्मों को नाशकर मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु अनन्तानंत काल बीतने पर भी मोक्ष के जीव कभी भी संसार में नहीं आते हैं। संसारी जीव तो दुख में ही निवास करते हैं इनको जरा भी सुख नहीं मिलता है यदि पुण्य कर्म के उदय से थोडा सा ऐन्द्रियक सुख मिल भी जाता है तो वह स्थिर नहीं होता है प्रत्युत उसका उदर्क उत्तापकारी ही होता है, परन्तु मोक्ष के स्वशुद्ध स्वरूपानुभवी जीव सुख ही सुख का अनुभव करते हैं ऐसा जिनवाणी में बतलाया गया है। इसलिये हे आत्मन् संसार से उदास होकर जो जीव रत्नत्रय की प्राप्ति मार्ग में चलते हैं, वे नियम से मोक्ष प्राप्त करते है। तू भी ऐसा ही कर।

रत्नत्रय आत्मा का निज स्वभाव है, अनादिकाल से सत्ता रूप में आत्मा में मौजूद है मोक्षप्राप्त जीवों के विरोधी तत्त्व के विलग हो जाने से व्यक्त हो चुका और संसारी जीव में विरोधी तत्त्व ने आवृत कर रक्खा है इससे शक्ति रूप में ही पाया जाता है। आचार्यों ने रत्नत्रय को दो तरह से बतलाया है- एक व्यवहार रत्नत्रय, दूसरा निश्चय रत्नत्रय। व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप इस तरह वर्णन किया है-

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥155॥

[श्री कुंदकुंद आचार्य देव विरचित 'समयसार']

अर्थ- जीवादि सात तत्त्वों का ऐसा श्रद्धान करना कि भगवान जिनेन्द्र ने जीवादि सात तत्त्वों का जैसा स्वरूप कहा है वह तो उसी तरह है, अन्य नहीं है, अन्य प्रकार भी नहीं है इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन्हीं जीवादि तत्त्वों का संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है और इन सारे पदार्थों से राग द्वेष का परिहार करना अथवा आत्मा में से हिंसादि परिणति का बुद्धि पूर्वक त्याग करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है और इन तीनों रूप परिणति व्यवहार मोक्षमार्ग है। यही व्यवहार मोक्ष मार्ग निश्रय मोक्षमार्ग का कारण होता है। जैसा कि दौलतरामजी ने अपने छहढाला में लिखा है-

पर-द्रव्यनतैं भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त्व भला है।
आप रूप को जानपनो, सो सम्यग्ज्ञान कला है॥
आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित्र सोई।
अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिये, हेतु नियत को होई॥2॥

[पण्डित दौलतराम जी विरचित 'छहढाला' (तीसरी ढाल)]

अर्थ- द्रव्य छह प्रकार के होते हैं- (१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल। जीव दो तरह का माना गया है (१) स्वजीव (२) परजीव। निजात्मा ही स्वजीव जानना चाहिये और अरहन्त आदि परजीव जानना चाहिये॥१॥ रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणवाला पुद्गलद्रव्य जानना चाहिये। ये द्रव्य परमाणु और स्कन्ध रूप से दो तरह का बतलाया गया है। शुद्ध पुद्गलद्रव्य परमाणु ही होता है। परमाणुओं के मेल से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। सारे संसार के दृश्यमान पदार्थ स्कन्ध के ही परिणमन रूप हैं॥२॥ अदृश्यमान एक ऐसा पदार्थ लोक में है जिसकी सहायता से जीव और पुद्गल एक क्षेत्र

से दूसरे क्षेत्र में आ जा सकते हैं उसे धर्मद्रव्य कहते हैं॥३॥ एवं एक ऐसा और भी पदार्थ मौजूद है जिसकी सहायता से चलते हुए जीव पुद्गल ठहर सकते हैं उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं॥४॥ संपूर्ण द्रव्यों को स्थान देने वाला द्रव्य आकाश कहलाता है॥५॥ हरएक द्रव्य की एक अवस्था से दूसरे अवस्था रूप परिणति होने को कारणभूत द्रव्य काल द्रव्य कहलाता है॥६॥ ऊपर बतलाया गया है कि ये जीव भ्रम भाव में डूब रहा है इसी से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं करता है। हमी भाव को लेकर एक विद्वान का कहना है कि-

याही जगमाहिं चिदानंद आप डोलत है,
भरम भाव धरै हरै आतमसकतकौं ।
अष्टकर्मरूप जे जे पुद्गलके परिनाम,
तिनकौं सरूप मानि मानत सुमतकौं ॥
जाहीसमै मिथ्या मोह अंधकार नासि गयौ,
भयौ परगास भान चेतनके ततकौ ।
तहीसमै जानौ आप आप पर पररूप,
भानि भव-भांवरि निवास मोख गतकौ ॥ 74 ॥

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

अर्थ- इस संसार में यह चिदानन्दरूप जीव भ्रम भाव धारणकर चारों गतियों में भ्रमण करता है जिससे अपनी शक्ति का नाश करता है, आठ कर्मरूप जो जो पुद्गल के परिणाम (पर्याय) हैं उनको अपना स्वरूप जानता है उससे अपनी सुमति को नष्ट करता है। जिस समय इस जीव का मिथ्यात्वरूपी मोहान्धकार नष्ट हो जाता है उसी समय चेतन के विस्तार (फैलाव) का प्रकाश करता है जिससे आत्मा

आपको आपरूप और पर को पररूप जानकर संसार में भ्रमण को दूरकर मोक्ष में निवास करने लगता है।

अभीतक इस जीव ने अपने स्वभाव की पहिचान नहीं की है यदि ये अपने स्वभाव को पहिचान जाय तो फिर इसका चतुर्गत्यात्मक परिभ्रमण अपने आप शांत हो जावे। जीव का स्वभाव क्या है? और इसने किसको भ्रम से अपना स्वभाव मान लिया तथा इसको अपने स्वभाव की पहिचान होने पर क्या लाभ होता है? आदि भाव निम्नलिखित छन्द में बतलाया है-

रागदोष मोहभाव जीवकौ सुभावनाहिं,
जीवकौ सुभाव सुद्धचेतन वखानियै ।
दर्व कर्मरूप ते तौ भिन्न ही विराजते हैं,
तिनकौ मिलाप कहो कैसैं करि मानियै ॥
ऐसो भेद ज्ञान जाके हिरदैं प्रगट भयौ,
अमल अबाधित अखंड परमानियै ।
सोई सुविचच्छन मुकत भयौ तिहुँकाल,
जानी निज चाल पर चाल भूलि भानियै ॥ 75 ॥

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

अर्थ- हे आत्मन्! तू इस बात का निश्चय कर कि रागद्वेष मोहरूप भाव जीव के स्वभाव नहीं हैं क्योंकि ये भाव तो मोहनीय कर्मजन्य विभाव भाव हैं, पर निमित जन्य होने से नश्वर हैं। जीव का स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य रूप है। जो ऐसा कहा जाता है कि कर्म जीव के साथ मिला हुआ है सो ऐसा कहना भी मिथ्या है, क्योंकि द्रव्य कर्म तो आत्मा से बिलकुल भिन्न रूप हैं, जड़ हैं, आत्मा का स्वभाव

चैतन्यरूप है, फिर उनका मेल आत्मा के साथ कैसे माना जा सकता है। ऐसा भेदविज्ञान जिसकी आत्मा में व्यक्त हो जाता है वह तो निरंजन है, बाधारहित अखण्ड ही प्रमाण में आता है। ऐसा भेदज्ञानी आत्मा तीनों काल मुक्त है क्योंकि उसने अपने स्वरूप की पहिचान की है और पर स्वरुप का त्याग किया है।

पदार्थ का विचार दो दृष्टियों से करना चाहिये एक द्रव्यदृष्टि से और दूसरा पर्याय दृष्टि से। द्रव्यदृष्टि तो पदार्थ खास स्वभाव की परिचायक होती है, उसमें दूसरे पदार्थों के स्वभाव के मेल मिलाप की आवश्यकता ही नहीं रहती, पर्यायदृष्टि पर के निमित्त से होने वाली अवस्था की मुख्यता का वर्णन करती है, सो जैसा वह वर्णन करती है वैसा वस्तु का स्वभाव नहीं होता, स्वभाव तो ध्रुव होता है, पर्यायें नश्वर होती हैं। हमने अनादि- काल से अभीतक अपने रूप की पहिचान नहीं की है क्योंकि मोहकर्म के सम्बन्ध से अपने को पररूप ही समझा है। मैं काला हूँ, गौरवर्ण हूँ, मूर्ख हूँ, पंडित हूँ आदि अवस्थाओं को ही आत्मा माना, ये नहीं जाना कि काला, गौरा आदि तो पुद्गल की दशाएं हैं सो इनका सम्बन्ध तो पुद्गल के साथ है मैं तो चैतन्य ज्योतिरूप हूं फिर पुद्गलरूप कैसे हो सकता हूँ!

आत्मा को आत्मा न मानते हुए पर को आत्मा मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के वश में रहने वाला प्राणी दीर्घ संसारी होता है। मिथ्यादृष्टि जीव ही ऐसा निश्चय करता है कि मैं सुखी हूं, दुखी हूं, राजा हूं, रंक हूं, मेरा जन्म होता है, मरण होता है, मेरे पुत्र हैं, स्त्री है, कुटुम्ब है, मां बाप भाई बन्धु आदि मेरे हैं, मैं इनका हूं, वे मेरे रक्षक हैं, मैं इनका रक्षक हूं, मैं इनको जिन्दा रखता हूं, ये मुझे जिन्दा रखते हैं इत्यादि। मिथ्यादृष्टि जीव संसार की परिस्थिति को देखता हुआ भी अन्धा बना

रहता है, उसको थोड़ा भी विवेक करने का अवसर नहीं मिलता कि वस्तु के रूप का विचार तो करे, दरअसल में देखा जाय तो संसार में कोई किसी का नहीं है। श्री पूज्यपादस्वामी ने इष्टोपदेश में कहा है-

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥८॥

[श्री पूज्यपादस्वामी विरचित 'इष्टोपदेश']

अर्थ- शरीर, घर, धन,स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु सर्वथा मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाव वाले हैं, परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इनको अपने ही मानता है। यही तो मिथ्यात्वोदय की विशेषता है। एक विद्वान कवि ने बतलाया है-

(दोहा)

केश पलटि पलट्या वपू, ना पलटी मन बाँक।
बुझे न जरती झूंपरी, ते जर चुके निसांक॥५०१॥
नित्य आयु तेरी झरे, धन पैले मिलि खाँय।
तू तो रीता ही रह्या, हाथ झुलाता जाय॥५०२॥
अरे जीव भव वन विषै, तेरा कौन सहाय।
काल सिंह पकरे तुझे, तब को लेत बचाय॥५०३॥
को है सुत को है तिया, काको धन परिवार।
आके मिले सराय में, बिछुरेंगे निरधार॥५०४॥
बहुत गई थोड़ी रही, उरमें धरो विचार।
अब तो भूले डूबना, निपट नजीक किनार॥५०६॥
झूठा सुत झूठी तिया, है ठगसा परिवार।
खोसि लेत है ज्ञानधन, मीठे बोल उचार॥५०७॥
आयु कटत है रात-दिन, ज्यों करोत तें काठ।

हित अपना जलदी करो, पड़ा रहेगा ठाठ॥५१४॥
विसन भोग भोगत रहे, किया न पुन्य उपाय।
गांठ खाय रीते चले, हटवारे में आय॥५१८॥
देहधारी बचता नहीं, सोच न करिये भ्रात
तन तो तजि गये राम से, रावन की क्या बात॥५२३॥
किते दिवस बीते तुम्हें, करते क्यों न विचार।
काल गहेगा आय कर, सुन है कौन पुकार॥५२७॥
या दीरघ संसार में, मुवो अनंती बार।
एक बार ज्ञानी मरे, मरे न दूजी बार॥५३१॥
आसी सो जासी सही, टूटे जुर गई प्रीति।
देखी सुनी न सासती, अथिर अनादी रीति॥५४१॥
ममता समता की करो, निज घटमाहिं पिछान।
बुरी तजो आछी भजो, जो तुम हो बुधिमान॥५५२॥
जाकी संगति दुख लहो, ताकी तजो न गैल।
तो तुमको कहिये कहा, ज्योंके त्यों हो बैल॥५५३॥
यातें अब ऐसी गहो श्रद्धा दृष्टि अपार।
याद करत तुष - माष को, उतर गये भवपार॥५६४॥
आपा-पर-सरधान विन, मधुपिंगल मुनिराय।
तप खोया बोयो जनम, रोयो नरक मंझार॥५६५॥
अति गंभीर संसार है, अगम अपरंपार।
बैठे ज्ञानजिहाज में, ते उतरे भवपार॥५७७॥
संसारी को देख दुख, सतगुरु दीनदयाल।
सीख देत जो मान ले, सो तो होत खुशाल॥५७६॥

[बुधजन जी विरचित 'बुधजन सतसई']

आत्म- हितैषी सच्चे गुरु की ये शिक्षा ऐसे जीवों के लिये है जो भद्र परिणामी होते हुए सम्यक्त्व के सन्मुख हो रहे हों। वास्तव में देखा जाय तो तीन लोक के जीवों का सच्चा दुश्मन यदि कोई हो सकता है तो एक मिथ्यात्व ही हो सकता है जब तक कि मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है मोक्ष का प्रधान अंग सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता है।

अब यहां प्रकरणवश संक्षेप में मिथ्यात्व का स्वरूप, उसके भेद और उसका फल बतलाया जाता है-

मोहनीय कर्म के दो भेद होते हैं (१) दर्शनमोह (२)चारित्रमोह। दर्शनमोह आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातक (आच्छादक) होता है। चारित्रमोह- आत्मा के आचरण रूप चारित्र का घातक होता है दर्शनमोह के मिथ्यात्व- सम्यग्मिथ्यात्व- सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व ऐसे तीन भेद होते हैं। इनमें से जीव को जब मिथ्यात्वकर्म का उदय होता है तब सर्वज्ञभाषित तत्त्वों का ठीक-ठीक विश्वास नहीं होने पाता है। ऐसे मिथ्यात्व के पंडित प्रवर आशाधरजी ने तीन भेद बतलाये हैं यथा-

केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीतं शल्यति सांशयिकम परेषाम्॥5॥

[पंडितप्रवर आशाधर जी विरचित 'सागार धर्मामृत' (प्रथम अध्याय)]

अर्थात् मिथ्यात्व तीन प्रकार का होता है- अगृहीत गृहीत और सांशयिक। अनादिकाल से पुनःपुनः चला आया तत्त्वविषयक अरुचि रूप आत्मा का परिणाम अगृहीत मिथ्यात्व कहा जाता है। यह मिथ्यात्व दूसरों के उपदेश के बिना होता है इसलिये इनको अगृहीत कहते हैं। दूसरों के उपदेश से प्राप्त होने वाला अतत्त्व श्रद्धान रूप बुद्धि का विकार गृहीत मिथ्यात्व कहलाता है।

मिथ्यात्व कर्म के उदय के साथ २ ज्ञानावरणी कर्म के उदय से "जिनेन्द्र भगवान के द्वारा भाषित तत्त्व उसी प्रकार हैं या नहीं" इस प्रकार के अज्ञानजन्य परिणामों से आत्मा में चंचलता पैदा हो जाने को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। इस संसार में अगृहीत मिथ्यात्व घोर अज्ञान अवस्था में एकेन्द्रिय संज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत के सभी जीवों के गाढ अंधकार सरीखा महान दुख देने वाला होता है। दूसरा गृहीत मिथ्यात्व संज्ञी पंचेंद्रिय जीवों के भूत से गृहीत व्यक्ति के समान दुख देने वाला होता है। तीसरा संशय मिथ्यात्व श्वेतांबर मतावलंबी इन्द्राचार्य सरीखों को हृदय में चुभी हुई शल्य (शंकु) के समान दुख देने वाला होता है।

मिथ्यात्व के पांच भेद भी बतलाये गये हैं- विपरीत एकांत, विनय, संशय, और अज्ञान।

केवली कवलाहारी हैं, स्त्री की मुक्ति होती है इत्यादि अभिनिवेश (अभिप्राय) को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। सर्व पदार्थ क्षणिक ही हैं, जीव सदा मुक्त ही है इत्यादि रूप परिणाम को एकांत मिथ्यात्व कहते हैं।

सब देव, सब धर्म, सब मत समान हैं, सबकी विनय करने में समान फल होता है ऐसे अभिप्राय को विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

संशय मिथ्यात्व का स्वरूप ऊपर बतलाया जा चुका है। हिताहित का विवेक किये बिना प्रवृत्ति करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

इस तरह से मिथ्यात्व के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद बतलाये गये हैं। एक विद्वान ने कहा है-

असंख्यात-लोक-परमान जे मिथ्यात-भाव,
तेई विवहार-भाव केवली-उकत हैं।

[कविवर बनारसीदासजी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार-छंद 32)]

अर्थात्- भगवान केवली ने कहा है कि लोकाकाश के जितने प्रदेश होते हैं व्यवहारनय से उतने ही मिथ्यात्व भाव के अध्यवसाय होते हैं।

तीन लोक जीवों को जो दैहिक, मानसिक और आगन्तुक आदि दुख होते हैं उनका प्रधान हेतु मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व से अनन्त संसार फलता है।

ऊपर बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव विवेक रहित होता है उसको अतत्त्व श्रद्धान होता है। उसकी प्रवृत्ति के विषय में भाषा छन्दोबद्ध नाटक समयसार में कहा गया है-

(सवैया इकतीसा)

धरम न जानत, बखानत भरमरूप,
ठौर-ठौर ठानत, लराई पच्छपात की।
भूल्यौ अभिमान में, न पाउ धरै धरनी में,
हिरदै में करनी, बिचारे उतपात की॥
फिरै डांवाडोल-सौ, करम के कलोलनि में,
ह्वै रही अवस्था, सु बघेलू कैसे पात की।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती, है मिथ्याती महापातकी॥

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (छंद 9)]

अर्थ- जो मिथ्यादृष्टि जीव वस्तु के स्वभाव के ज्ञान से अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्व का ही पुष्ट करने वाला होता है, एकांत का

पक्ष लेकर जगह जगह लड़ाई करता है, अपने मिथ्याज्ञान के अहंकार में धरती पर पांव नहीं टिकाता है, चित्त में उपद्रव ही उपद्रव करना सोचता है, कर्म के झकोरों से संसार में डांवाडोल हुवा फिरता है अर्थात् कभी विश्राम नहीं पाता, सो ऐसी दशा हो रही है जैसे वघरूढे में पत्ता उड़ता फिरता है। जो हृदय में कोष से तप्त रहता है, लोभ से मलीन रहता है, माया से कुटिल होता है, मान से खोटे २ बोल बोलता है ऐसा आत्मघाती, महापापी मिथ्यादृष्टि होता है। अभिमान से क्या क्या कहता है सो सुनिये-

(चौपाई)

मैं करता मैं कीन्ही कैसी, अब यौं करौ कहौ जो ऐसी।
ए विपरीतभाव है जामैं, सो बरतै मिथ्यात-दसामैं॥24॥

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार)]

अर्थ- मैं करता हूं, मैंने यह कैसा काम किया (जो दूसरों से नहीं बन सकता है) अब भी मैं जैसा कहता हूं वैसा ही करूंगा, जिसमें ऐसे अहंकाररूप विपरीत भाव होते हैं वह मिथ्यादृष्टि होता है। और भी कहा है-

(दोहा)

अहंबुद्धि मिथ्यातदसा, धरै सो मिथ्यावंत।
विकल भयौ संसार में, करै विलाप अनंत॥25॥

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार)]

अर्थ- मिथ्यात्व जन्य अहंकार मिथ्यात्व है, ऐसा भाव जिस जीव में होता है वह मिथ्यात्वी कहा जाता है। मिथ्यादृष्टि संसार में दुखी होता हुआ भटकता है और अनेक प्रकार के विलाप करता है॥ एक ग्रन्थ में ज्ञाता और मिथ्यादृष्टि का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है-

मिथ्यादृष्टी जीव आपको रागी मानै।
मिथ्यादृष्टी जीव आपको द्वेषी जानै॥
मिथ्यादृष्टी जीव आपको रोगी देखै।
मिथ्यादृष्टी जीव आपको भोगी पेखै॥
जो मिथ्यादृष्टी जीव सो सुद्धातम नांहि लहै।
सोई ज्ञाता जो आपको जैसा का तैसा गहै॥

अर्थ- पदार्थ के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान नहीं रखने वाला मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपको रागी, द्वेषी, रोगी और भोगी मानता है, वह मिथ्यात्व दशा में किसी समय अपने शुद्ध आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दृष्टि ही आत्मा यथार्थ स्वरूप को ग्रहण कर सकता है।

मिथ्यात्व का अचिन्त्य प्रभाव है इसके प्रताप से ही जीव को सागरों पर्यंत या असंख्यात काल तक नरक तिर्यंच गतिक दुख उठाने पड़ते हैं। आज हम जितने दीन, दुखी, दरिद्री, रोगी, शोकी, आततायी, रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, मत्सरी, आर्त रौद्र परिणामी जीवों को देख रहे हैं वे सब मिथ्यात्व के प्रभाव से ही ऐसे हैं। ऐसे जीव बारम्बार नवीन - नवीन भयंकर कर्मों का बन्धन कर अपनी संसार परिपाटी का अन्त नहीं कर सकते। संसार में तब तक इस जीव को रहना ही पड़ता है जबतक इस मिथ्यात्व का संसर्ग बना रहता है। इसलिये तत्त्वज्ञान के अभिलाषियों को श्रीगुरु यही उपदेश देते हैं कि अये भव्यात्माओ अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करना चाहते हो या अनन्त सुख शांति चाहते हो तो इस दुष्ट पिशाच रूप महामोह का त्याग करो।

मिथ्यात्व के त्याग करते ही आत्मा के सारभूत सम्यक्त्व गुण का विकास हो जाता है और सम्यक्त्व के प्रादुर्भूत होते ही आत्मा में ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम के अनुसार यथार्थ ज्ञान हो जाता है जिससे सर्वज्ञ भाषित पदार्थों की ठीक ठीक जानकारी पूर्वक ठीक ठीक तत्त्व प्रतीति होने लगती है। यदि सच्ची प्रतीति और सच्ची जानकारी होने लगती है तो संसार शरीर और इन्द्रियों के विषयों से उदासीनता पूर्वक सदाचरण भी होने लगेगा जिससे निकट भविष्य में संसार का अन्त भी हो जावेगा।

सम्यक्त्व आत्मा में पैदा नहीं किया जाता है वह तो आत्मा का निजी गुण है। वह विरोधी कर्म के द्वारा आवृत्त हो रहा है। आत्मा अपने पुरुषार्थ से जब सम्यक्त्व विरोधी मिथ्यात्व का अभाव कर डालता है तब इस गुण का अपने आप विकास हो जाता है। एक वक्त थोड़े समय के लिये भी ये सम्यक्त्व गुण व्यक्त हो जाता है तो विश्वास हो जाता है कि ऐसे जीव का संसार का निकट आ गया। अतएव हरएक आत्मा को सम्यक्त्व व्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वों का श्रद्धानी होता है उसको सर्वज्ञ भाषित तत्त्वों में जरा भी संदेह नहीं रहता है उसका दृढ़ विश्वास ऐसा होता है कि-

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते
आज्ञासिद्ध तु तद्ग्राह्यं नान्यथा वादिनो जिनाः।

['बृहद्द्रव्यसंग्रह' गाथा 48 की 'श्री ब्रह्मदेव सूरी' की टीका में उद्धृत ; 'षटप्राभृत' के 'दर्शनप्राभृत' की गाथा 12 की 'श्री श्रुतसागर सूरी' की टीका में उद्धृत ; 'श्री शुभचन्द्र आचार्य' विरचित 'ज्ञानार्णव' के '33वे सर्ग - आज्ञाविचय धर्मध्यान' के 7वे श्लोक के बाद उद्धृत ; 'आलाप पद्धति' गाथा 5 की टीका में उद्धृत]

अर्थ- भगवान जिनेन्द्र द्वारा भाषित तत्त्व अत्यंत सूक्ष्म है उनका खंडन किसी भी हेतु से नहीं हो सकता है। उन्होंने आत्मा में विकार पैदा करने वाले राग द्वेष का उन्मूलन किया है, अत एव उनकी प्रतिपादन शैली रागद्वेष रहित होने से निष्पक्षपात होती है। वे पूर्णज्ञानी होते हैं और हमारा ज्ञान क्षयोपशम के अनुसार होता है इसलिये सूक्ष्म तत्वों को यथावत समझने की शक्ति हममें न होने पर भी उनकी आत्मा समझकर ही तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये और ऐसा दृढ विश्वास रखना चाहिये कि भगवान जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं होते हैं।

कभी-कभी बुद्धि की मन्दता से गुरु की आज्ञा समझकर अतत्त्व का तत्त्व रूप श्रद्धान कर लेने पर भी उसके सम्यक्त्व में बाधा नहीं आती है, इसी बात को पंचसंग्रह में बतलाया है कि-

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं, पवयणं तु सद्दहदि
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥

[गोम्मटसार-जीवकांड गाथा 27 ; पञ्चसंग्रह प्रथम अधिकार जीवसमास गाथा 12 ; षट्खंडागम - धवला पुस्तक 1 - गाथा 110, पृष्ठ 174]

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥28॥

[गोम्मटसार-जीवकांड]

अर्थ- सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करता है परन्तु कभी अज्ञानी गुरु के उपदेश को सर्वज्ञ का ही उपदेश समझकर अतत्त्व का भी तत्त्व रूप से श्रद्धान कर लेता है तो भी उसका सम्यक्त्व भ्रष्ट नहीं होता है। यदि कोई भी विद्वान सूत्र के

प्रमाण से उस के श्रद्धेय तत्त्व का उल्टापन सिद्ध करके बतला देता है कि तुमने जैसा श्रद्धान कर रक्खा है तत्त्व वैसा नहीं है, किन्तु देखो शास्त्र में तो ऐसा कहा गया है। ऐसा बतलाने पर भी कदाग्रहवश वह उसको स्वीकार न करे तो उसी समय से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ऐसा निश्चय करना चाहिये।

आत्मा के उद्धार करने की इच्छा करने वाले भव्यजीव, को सम्यक्त्व की उद्भूति अपनी आत्मा में जरूर करनी चाहिये। तीन तरह का सम्यक्त्व होता है (१) उपशम सम्यक्त्व (२) क्षयोपशम सम्यक्त्व (३) क्षायिक सम्यक्त्व। इनमें से यदि क्षायिक सम्यक्त्व हो जावे तो इस आत्मा को ज्यादा से ज्यादा चार भव ही धारण करने पड़ते हैं जैसा कि कहा गया है

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि तत्थेव तदियतुरियभवे ।
णादिक्कदि तुरियभवे ण विणस्सदि सेससम्मेव ।। १६५ ।।

[आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती विरचित 'लब्धिसार']

अर्थ- दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के क्षय होने पर उसी भव में या तीसरे चौथे भव में भव्यजीव सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है, चौथे भव का उल्लंघन तो किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। भाव ये है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर या तो उसी भव में जीव सिद्धपद को प्राप्त हो जाता है, या देवायु का बंध हो गया हो तो तीसरे भव में सिद्ध होता है यदि सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहिले मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य या तिर्यंच गति का बंध किया होगा तो चौथे भव सिद्ध हो जाता है। लेकिन चौथे भव का अतिक्रमण नहीं करता है। यह सम्यक्त्व साद्यनंत होता है। यह क्षायिक सम्यक्त्व इतना मजबूत होता है कि तर्क तथा आगम से विरुद्ध श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाला

वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकता तथा वह भयोत्पादक आकार या घृणोत्पादक पदार्थों को देखकर भी भ्रष्ट नहीं होता है। यदि कभी तीन लोक इकट्ठे होकर उसको अपने श्रद्धान से पतित करना चाहें तो भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि अपने श्रद्धान से पतित नहीं हो सकता।

प्रश्न- क्षायिक सम्यक्त्व किसके कहां पर उत्पन्न होता है?

उत्तर- दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय होने का प्रारंभ तो केवली के मूल में कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाला मनुष्य ही करता है, लेकिन समाप्ति (निष्ठापन) सर्वत्र हो सकती है।

प्रश्न- क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व का स्वरूप समझाइये!

उत्तर- दर्शनमोहनीय के जो तीन भेद होते हैं उनमें से मिथ्यात्व और मिश्रमिथ्यात्व इन दोनों प्रकृतियों के साथ अनंतानुबन्धी चतुष्क का सर्वथा क्षय या उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर तथा सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने पर जो पदार्थों का श्रद्धान होता है उसी को वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। यहां पर सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से चल मल और अगाढ दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन तीनों का लक्षण ग्रंथांतर से जानना चाहिये।

प्रश्न- उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप और उसका वर्णन कीजिये?

उत्तर- ऊपर कहीं हुई सातों प्रकृतियों के उपशम होने से जो पदार्थों का श्रद्धान होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। उपशमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व विशुद्धि (निर्मलता) की अपेक्षा समान होते हैं क्योंकि विरोधी कर्मों का उदय दोनों जगह नहीं होता है। विशेषता इतनी ही रहती है कि क्षायिकसम्यक्त्व के विरोधी कर्म का अत्यन्त

अभाव हो जाता है और उपशमसम्यक्त्व में विरोधी कर्म दब जाता है नष्ट नहीं होता है। जैसे किसी गंदे जल में निर्मली आदि से ऊपर से निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड़ जमी रहती है, किसी जल के नीचे कीचड़ नहीं रहती है। दोनों जल निर्मलता की अपेक्षा समान हैं पर कीचड़ के रहने न रहने की अपेक्षा भेद होता है।

पांच लब्धियों में से करण लब्धि के होने पर सम्यक्त्व या चारित्र नियम से होता है। सम्यक्त्व ग्रहण करने के योग्य सामग्री की प्राप्ति होने को लब्धि कहते हैं। उसके पाँच प्रकार हैं। सम्यक्त्व होने के योग्य कर्मों के क्षयोपशम होने को क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। निर्मलता की विशेषता को विशुद्धि कहते हैं। योग्य उपदेशक के उपदेश को देशना कहते हैं। पंचेंद्रियादि स्वरूप योग्यता के मिलने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृतिकरण के परिणामों को करणलब्धि कहते हैं इन तीनों करणों का स्वरूप निर्जरा सार से जानना चाहिये। इन पांच लब्धियों में से आदि की चार लब्धियां तो सामान्य हैं, क्योंकि ये लब्धियां भव्य अभव्य दोनों को हो सकती हैं, पर करण लब्धि की ही विशेषता होती है। ये लब्धि भव्य के ही होती हैं और सम्यकत्व या चारित्र की संमुखता होने पर ही होती है अर्थात् करण लब्धि होने पर नियम से सम्यकत्व या चारित्र होता है। जो जीव चारों गतियों में से किसी एक गति का धारक, भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, विशुद्धितायुक्त, जागृत, उपयोगयुक्त और शुभलेश्या का धारक होकर करणलब्धि रूप परिणामों का धारक होता है वह जीव उपशम सम्यकत्व को प्राप्त करता है।

प्रश्न- सम्यग्दर्शन कितनी तरह से हो सकता है?

उत्तर- सामान्यतया सम्यग्दर्शन दो तरह से हो सकता है (१) पूर्व जन्म में गुरु आदि के द्वारा उपदेशादि सुनने पर भी उस समय तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं हुआ हो पर जन्मान्तर में उस संस्कार के बल से बिना दूसरे के उपदेशादि की सहायता के जो सम्यग्दर्शन होता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। (२) देव शास्त्र गुरू तथा उपदेशादि के निमित्त से जो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन का विशेष माहात्म्य जानना हो तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार या निर्जरासार का स्वाध्याय करना चाहिये।

अनादिकाल से आत्मा के साथ तमाम कर्म दूध पानी के मेल की तरह एकमेक हो रहे हैं, उनके संबंध से ही आत्मा अपने स्वभाव को नहीं पहचान सका है। जब प्रयत्न करके सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव करता है तब भेद विज्ञान नाम का ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे ही आत्मा आपको और कर्म को भिन्न-भिन्न जानता है।

भेदज्ञान किसे कहते हैं?

भेदो विधीयते येन चेतनाद्देहकर्मणोः।
तज्जातविक्रियादीनां भेदज्ञानं तदुच्यते ॥10॥

[भट्टारक-श्री ज्ञानभूषण विरचित तत्त्वज्ञान तरंगिणी, अष्टम अध्याय]

अर्थ- जिसके द्वारा आत्मा से देह और कर्म का तथा देह और कर्म से उत्पन्न हुई विक्रियाओं का भेद जाना जाता है उसे भेद विज्ञान कहते हैं।

मोहकर्म के निमित्त से पर पदार्थों में निजत्व बुद्धि धारण की, उनको ही

अपना माना, पर अपने स्वरूप की पहिचान कभी नहीं की, मैं कौन हूं, मेरे गुण क्या हैं, मुझे क्या प्राप्त करना है, और वह कैसे प्राप्त हो सकता है" इत्यादि रूप का विचार कभी हुवा ही नहीं हैं, ऐसा विचार तो सम्यक्त्व पूर्वक होने वाले भेदज्ञान से ही हो सकता है। भेदज्ञानी विचार करता है कि मैं न मनुष्य हूं, न देव हूं, न गौर हूं,न काला, रंक, राजा, आदि भी नहीं हूं ये तो पुद्गल के संसर्ग से होने वाली पर्याय हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्य का पिंड हूं, अपने स्वरूप में ही सदा अवस्थित हूं, मेरी निधि मेरे पास है, वह किसी रूप में मुझसे अलग नहीं की जा सकती है। वह तो छाया की नाई सदा मेरे साथ रहने वाली है" बड़े-बड़े तपस्वी और श्रुतज्ञानियों ने भी बिना भेदज्ञान के शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति नही कर पाई, जिसने भी शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति की उसने बिना भेदज्ञान के नही की है। जिस प्रकार अग्नि बड़े भारी ईंधन के समूह को देखते- देखते भस्म कर डालती है उसी प्रकार भेद विज्ञानी तमाम कर्म समूह को क्षणभर में नष्ट कर डालता है भेदज्ञानी आत्मा के साथ किसी तरह के कर्म का सम्बन्ध नहीं रह सकता है। जो लोग शुद्ध चिद्रूप को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि ध्यान में अन्य किसी भी पदार्थ की भावना न कर केवल एक भेद विज्ञान की ही भावना को करें आचार्य प्रवर अमृतचन्द्रजी ने अपने समयसार कलश में कहा है-

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥१३१॥

[श्री अमृतचन्द्राचार्य विरचित 'समयसार कलश' (संवर अधिकार श्लोक 7)]

अर्थ- जितने भी आजतक सिद्ध हुए हैं वे सब भेद विज्ञान से ही हुए हैं। जो अबतक संसार में भ्रमण कर रहे हैं और आगे करेंगे वे

भेदविज्ञान के अभाव में ही ऐसा करेंगे। भेदविज्ञानी ही मोक्ष प्राप्त करता है और मोक्ष बिना संवर (आते हुए कर्मों का रोकना) निर्जरा (क्रम-क्रम से शेष कर्मों का क्षय करना) के होता नहीं है। संवर और निर्जरा का लाभ आत्मज्ञान से होता है। इसलिए मोक्षाभिलाषी को चाहिये कि वह भेद विज्ञान को सबमें कार्यकारी जान कर उसी की भावना करे। यह भेदविज्ञान शुद्धचिद्रूप के दिखाने के लिये जाज्वल्यमाना दीपक के समान हैं। जिस प्रकार दीपक के होते ही गाढ अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भेदविज्ञान के होते ही मोहरूपी गाढ अंधकार नष्ट होकर शुद्धचिदरूप का दर्शन होने लगता है। इसलिए भेद विज्ञान का अभ्यास करो। ऐसा भेदविज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यक्त्व के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। मिथ्याज्ञान आत्मा को संसार की परिपाटी की तरफ ही झुकाता है। राग द्वेष रूप परिणति मिथ्यादृष्टि की ही होती है, सम्यग्दृष्टि तो पदार्थ के स्वरूप का विचार करता हुआ निश्चय करता है कि पर पदार्थों से मेरा कोई सम्बंध नही है। न ये मेरे होते हैं और न मैं इनका हूं, इनके साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। जब परपदार्थों से संबंध ही नहीं है तब उनसे राग द्वेष क्यों कर करेगा। उसको तो परमार्थ स्वरूप प्रगट हो जाता है। एक विद्वान कवि ने कहा है-

जिनके घटमैं प्रगट्यौ परमारथ, रागविरोध हिये न विचारैं ।
करकै अनुभौ निज आतमकौ, विषया सुखसौं हित मूल निवारैं॥
हरिकै ममता धरिकै समता, अपनौ बल फोरि जु कर्म विडारैं ।
जिनकी यह है करतूति सुजान, सुआप तिरैं पर जीवन तारैं॥92॥

[पण्डित प्रवर द्यानतरायजी विरचित 'धर्म विलास'-'उपदेश शतक']

अर्थ- जिनके हृदय में सत्यार्थ ज्ञान (भेदविज्ञान) प्रगट हो जाता है वे

अपने हृदय में राग द्वेष का विस्तार नहीं होने देते हैं। अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करके पंचेन्द्रियों के विषयों के अनुभव से उत्पन्न सुख को मूल से उन्मूलन करते हैं, वे तो पर पदार्थों से ममत्व को दूर करके समता को धारण कर अपने बल का परिचय देकर कर्म शत्रु का उन्मूलन कर डालते हैं। जिनकी ऐसी क्रिया है वे इस संसार समुद्र से खुद तिर जाते हैं तथा अन्य जीवों को भी तार देते हैं।

सम्यग्दृष्टि तो ऐसा विचार करता है कि मैं हमेशा कर्मों से भिन्न हूं, मेरा चैतन्य पदार्थ संसार के तमाम पदार्थों का यथार्थ प्रकाशक है, जितने राग द्वेष मोहादि विकारी भाव है वे मेरे नहीं हैं मैं इन रूप नहीं हूं ये तो परद्रव्य के निमित्त भाव हैं इसलिए वियोगशील हैं, मेरा स्वरूप ही मेरा है। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप के विषय में ऐसा विचार करता हैं कि मैं सदा राग द्वेष मोह से रहित हूं। यद्यपि मुझे लौकिक क्रियाएं करनी पड़ती हैं पर उनको मैं इच्छा- रहित कर्म की वरजोरी से करता हूं। क्योंकि विषयरस मुझे सुहावने नहीं लगते, मैंने संसार में शुद्ध आत्मा का अनुभव करके मोह रूपी बलवान योद्धा को जीता है, मोक्ष मेरे बिलकुल समीप हो गया है अब तो मेरा अनंत काल इसी रूप बीते तो अच्छा है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि की भावना तो ऐसी रहती हैं कि मैं सदैव ज्ञान रस में ही रमण करूं, कभी भी शुद्ध आत्मा के अनुभव से चलायमान न होऊं। पूर्वकृत कर्म विषवृक्ष समान हैं, उनका उदय फल फूल के समान हैं, मैं इनका भोक्ता नहीं हूं इसलिए ये अपने आप ही नष्ट हो जायेंगे भेदविज्ञानी की महिमा का कहां तक कथन किया जा सकता है वह तो पूर्व में कमाये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल को अनुराग पूर्वक नहीं भोगता है, सदैव शुद्ध आत्म पदार्थ में लवलीन रहता है वह तो शीघ्र ही कर्मपरिणति रहित मोक्षपद प्राप्त

करता है और आगामी काल में परमज्ञान का आनंद अनंत काल तक भोगता है।

ज्ञानी की उन्नति के क्रम के विषय में नाटक समयसार में लिखा है-

अत्यतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः॥
पूर्णकृत्वास्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु॥233॥

[आचार्य प्रवर अमृतचन्द्र विरचित 'समयसार कलश' (सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार श्लोक 41)]

अर्थ- ज्ञानी जन- कर्म और कर्म के फल से अत्यन्त विरक्ति भावना को भाकर संपूर्ण अज्ञान चेतना के नाश को स्पष्ट रूप से नृत्य करा कर अपने निज रस से प्राप्त किये स्वरूप रूप ज्ञान चेतना को आनन्द सहित जैसे हो वैसे पूर्ण कर नृत्य कराते हुए यहां से आगे प्रशम रस जो कर्म के अभाव रूप आत्मिक अमृत रस उसको सदा काल पियो। ऐसी ज्ञानी जनों को प्रेरणा है।

तात्पर्य ये है कि भेद विज्ञानी पूर्व में कमाये हुए कर्म रूप विष वृक्ष के विष फलों को नहीं भोगता है अर्थात- शुभ फल में रति तथा अशुभ फल में अरति नहीं करता, मन वचन काय योगों का निग्रह करता हुआ अपना बर्ताव करता है, ममता रहित राग द्वेष को रोककर परिग्रह जनित सब विकल्पों का त्याग करता है, शुद्ध आत्मीक अनुभव का अभ्यास करता है वह ज्ञानी ऊपर कहे हुए मार्ग को ग्रहण करके पूर्ण स्वभाव प्राप्त कर केवलज्ञान पाता है और सदैव उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुख में मग्न रहता है।

कविवर बनारसीदास जी शुद्ध आत्मद्रव्य को नमस्कार करते हैं-

निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाकै परगासमैं जगत माइयतु है।
रूप-रस-गंध-फास पुदगल कौ विलास,
तासौं उदवास जाकौ जस गाइयतु है।।
विग्रहसौं-विरत परिग्रहसौं-न्यारौ सदा,
जामैं जोग-निग्रह चिह्न पाइयतु है।
सो है ग्यान-परवांन चेतन-निधान ताहि,
अविनासी ईस जानि सीस नाइयतु है।।107।।

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (सर्वविशुद्धि-द्वार)]

अर्थ- आत्मा निर्भय, आनंदमय, सर्वोत्कृष्ट, ज्ञानरूप और भेद रहित है। उसके ज्ञानरूप प्रकाश में त्रैलोक्य का समावेश होता है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये पुद्गल के सुख हैं, इनसे उसकी महिमा निराली कही गई है। उसका लक्षण शरीर से भिन्न, परिग्रह से रहित, मन वचन काय के योगों से निराला है वह ज्ञान स्वरूप चैतन्य पिण्ड है, उसे अविनाशी ईश्वर मान कर मस्तक नमाता हूं । इस प्रकार सम्यक्त्व पूर्वक भेदज्ञानी आत्मा का महत्व वर्णन किया गया है।

इस प्रकार हे भव्यात्मा तू समझ जा, तुझे तो यही निश्चय करना चाहिये कि मैं तीन लोक का पूज्य परमात्म स्वरूप हूं उसी अभिप्राय को लेकर भगवान कुंदकुंद ने अपने नियमसार में बतलाया है।

एगो में सासदों अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा में बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥

[श्री कुंदकुंद आचार्य देव विरचित 'नियमसार' ; ऐसी ही गाथा निम्न ग्रंथो में भी प्राप्त होती है - मूलाचार गाथा-48 ; भाव-पाहुड गाथा-59]

अर्थात- ज्ञान दर्शन लक्षण वाला मेरा ये आत्मा ही नित्य है, बाकि के संपूर्ण पदार्थ बाह्यरूप हैं और सभी संयोग वियोग रूप हैं। इस बात को तू अच्छी तरह समझ कर अपनी भ्रांति को दूर कर तो कोई समय तू भी परमात्मा बन जायेगा।

अब हम तुझको वही उपाय बतलाते हैं जिससे तू आत्मा से परमात्मा बन सके। हमारे द्वारा बतलाये हुए उपाय को ही तू अंगीकार कर।

पहिले लोभ को तू बिलकुल छोड़ दे, किसी पर क्रोध मत कर, मायाचार रहित कार्य करने की कोशिश कर, मान की मर्यादा की रक्षा करने में मत फंस, हे आत्मन् तू विचार संसार में इन क्रोधादि के सिवाय तेरा कोई शत्रु नहीं है इसलिये इनसे बचने के उपाय श्रीगुरु ने तुझे जिस तरह के बतलाये हैं सो सुन- वैराग्यमणिमाला में कहा गया है-

भ्रातर्मे वचनं कुरु सारं चेत्त्वं वांछसि संसृतिपारं ।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधं त्यज भज त्वं संयमवरबोधं ॥६॥

[श्री चंद्र कवि विरचित (श्रुतसागरसूरि के शिष्य) 'वैराग्य मणिमाला']

अर्थ- हे भाई यदि तू संसार समुद्र के पार जाना चाहता है तो मेरे सारभूत वचनों का पालन कर, सबसे पहिले मोह को छोड़कर काम क्रोध का भी त्यागकर, संयम व सम्यकज्ञान को धारण कर यदि तू इन दोनों बातों को अपनाने लगेगा तो तू संसार समुद्र से पार हो सकता है, अन्यथा तू हमेशा के लिये संसाररूपी गड्ढे में गिरेगा जिससे निकलना अत्यंत कठिन मार्ग होगा। उससे तुम्हारी क्या दशा होगी सो भी बतलाया जाता है-

एको रोगी शोकी एको दुःखविहीनो दुःखी एकः ।

व्यवहारी च दरिद्री एक एकाकी भ्रमतीह वराकः ॥ १० ॥

[श्री चंद्र कवि विरचित (श्रुतसागरसूरि के शिष्य) 'वैराग्य मणिमाला']

अर्थ- हे आत्मन् चाहे रोग की दशा हो या शोकपूर्ण दशा हो दुःखों से रहित दशा हो या दुःखसहित दशा हो सबको यह जीव अकेला ही भोगता है। इसी प्रकार व्यवहार चलाने वाला वा दरिद्री भी यह जीव अकेला ही है। ज्यादा क्या कहा जाय यह संसारी जीव संसार की चारों गतियों में अकेला ही चक्कर लगाता है। आगे और भी कहा है-

दुर्गतिदुःखसमूहैर्भग्नस्तेषां पृष्ठे पुनरपि लग्नः ।
विकलो मत्तो भूताविष्टः पापाचरणे जंतो ! दुष्टः ॥ १६ ॥

[श्री चंद्र कवि विरचित (श्रुतसागरसूरि के शिष्य) 'वैराग्य मणिमाला']

अर्थ- इन विषय कषायों के सम्बंध के निमित्त से नरक- गति आदि दुर्गतियों के अनेक दुःखों से यद्यपि अनेक बार जर्जरित हो गया है फिर भी तू उन्हीं के पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ है। ए क्षुद्र कीट! तू अधम आचरण में लगा हुआ है! जिससे कि दुष्ट विषय कषायों से आच्छादित ज्ञान रहित मद से उन्मत्त, पापी भूतों से पकड़ा हुआ (पागल सा गिना जानेवाला) हो रहा है, इससे अब चेत- तेरी आत्मा कैसी है? तू तो शुद्ध बुद्ध है, तेरा किसी के साथ कोई सम्बंध नहीं है।

क्या त्यागना तू चाहता? चिन्मात्र तू निःसंग है।
तू शुद्ध है तेरा किसी से लेश भी नहि संग है॥
निःसंग निज को जान ले मत हो दुखी मत दीन हो।
इस देह से तज संग दे बस आप में लवलीन हो।

इस छंद का अर्थ ऊपर बतला दिया है फिर भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि तेरे आत्मा का स्वरूप है शरीर का स्वरूप उससे

बिलकुल भिन्न है, दोनों का पृथकपना प्रत्यक्ष दीखता है कविवर द्यानतराय जी ने जीव और पुद्गल की भिन्नता इस छंद में बड़ी खूबसूरती के साथ बतलायी है-

जीव चेतनासहित, आपगुन परगुन जानै ।
पुग्गलद्रव्य अचेत, आप पर कछु न पिछानै ।
जीव अमूरतिवंत, मूरती पुग्गल कहियै ।
जीव ज्ञानमयभाव, भाव जड़ पुग्गल लहियै ।।
यह भेद ज्ञान परगट भयौ, जो पर तजि अनुभौ करै।
सोपरम अतिंद्री सुख सुधा, भुंजत भौसागर तिरै ।। 83 ।।
यह असुद्ध मैं सुद्ध, देह परमान अखंडित ।
असंख्यातपरदेस, नित्य निरभै मैं पंडित ।।
एक अमूरति निर उपाधि, मेरो छय नाहीं ।
गुनअनंतज्ञानादि, सर्व ते हैं मुझमाहीं ।।
मैं अतुल अचल चेतन विमल, सुखअनंत मोमैं लसैं ।
जब इस प्रकार भावत निपुन, सिद्धखेत सहजैं बसैं॥84॥

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

अर्थ- जीव चेतना गुण सहित होने से अपने आपके और पुद्गलादि द्रव्यों के गुणों का जानकार होता है, पुद्गल द्रव्य चेतन गुण से रहित होता हुवा आप और पर की कुछ भी पहिचान नहीं करता है। जीव अमूरतीक है, पुद्गल मूर्तीक है, जीव के भाव ज्ञानस्वरूप हैं पुद्गल के भाव जड़ (अज्ञान) रूप हैं। इस प्रकार का भेदज्ञान जब प्रगट हो जाता है तब पर को छोड़कर अपने आपका अनुभव करने वाला होता है ऐसा जीव परम अतींद्रिय सुखामृत का भोग करता हुवा संसार समुद्र से तिर जाता है। ज्ञानी जीव फिर ऐसा विचार करता है

कि पुद्गल अशुद्ध है, मैं शुद्ध हूं, देहप्रमाण होता हुआ खंड से रहित हूं, मेरे निश्चय नय से लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, मैं नित्य हूं, भय रहित ज्ञान का पुंज हूं, मैं एक अमूर्तीक औपाधिक भावों से रहित हूं, मेरा कभी नाश नहीं है, मेरे अन्दर ज्ञानादि अनन्त गुण मौजूद है। मैं अतुल हूं अचल हूं, चैतन्य स्वरूप हूं, निर्मल हूं, मुझमे अनन्त सुख है। जब इस प्रकार की भावना करता है तब वह भेदविज्ञानी सहज में मोक्ष में निवास करने लगता है। इससे हे आत्मन् तू विचार,जो देह है वह तू नहीं है और जो तू है सो देह नहीं है फिर शून्य क्यों हो रहा है। फिर भी तुझे समझाने के लिये कहा जाता है। आंखे खोल और कान लगाकर सुन-

चेतन को कर भिन्न तन से, शांति सम्यक पायगा।
होगा तुरतहिं तू सुखी, संसार से छुट जायगा॥

हे भव्य!विचार कर तेरा चेतन स्वरूप आत्मा इस अनित्य शरीर से बिलकुल जुदा है। यह आत्मा इस शरीर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पृथक द्रव्य क्षेत्र काल भाव वाला है। ऊपर बतला ही दिया गया है कि आत्मा चैतन्य लक्षण वाला है और शरीर जड़ लक्षण है। जब तक तू इसको दृष्टि भेद से नहीं देखेगा तब तक तेरे को शांति प्राप्त नहीं हो सकती इससे तू इनके स्वरूप पर पूरा- पूरा विश्वास कर और उसी तरह का उनके स्वरूप की पहिचान कर, ज्ञान होने बाद वैसा ही आचरण कर। तेरा आत्मा ही परमात्मा बन जावेगा। अगर ऐसा नहीं किया तो फिर संसार में ही जन्म मृत्यु के दुख उठाने पड़ेंगे। यही बात सज्जन चित्तवल्लभ में बतलायी गई है।

सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे दानं तपो वा कृतं,
नोचेत्त्वं किमिहैवमेव लभसे लब्धं तदत्रागतम् ।
धान्यं किं लभते विनापि वपनं लोके कुटुम्बीजनो,
देहे कीटक भक्षितेक्षुसदृशे मोहं वृथा मा कृथाः ॥१५॥

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ']

सवैया

चाहत है सुख, क्या पिछले भव दान दिया, अरू संयम लीना।
नातर या भव में सुख प्रापति हो न भई, सो पुराकृत बीना।।
जो नहिंडारत बीज मही पर धान लहै न, कृषक मति हीना।
कीटक भक्षित ईख समान शरीर विषै तज मोह प्रवीना।। 15 ।।

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ', श्लोक १५ का पद्यानुवाद- कवि मेहरचन्द]

अर्थ- हे जीव जो तू सुख की वांछा करता है सो क्या तूने पूर्वभव में दान दिया था? या कोई तप किया था? यदि न दान दिया और न तप ही किया है तो तुझे इस लोक में सुख कैसे मिल सकता है? जैसा पूर्वभव में किया था वैसा ही इस भव में पा लिया। देखो संसार में किसान लोग क्या बिना बोये भी कहीं धान पाते हैं। कभी भी नहीं पाते हैं। देखो कीड़ों से खाये हुए ईख के समान अर्थात काने गन्ने के समान हम संसार के बढाने वाले इन विषय कषायों के रंग में मत फँस, नही तो पहिले से दुःख पाता हुआ यहां तक पहुंचा है और ऐसा करके फिर भी दुख पायेगा। देख तो सही तेरे आत्मा का ही स्वरूप विचार और उसमें ही संतोष धारण कर उसी का शरण ग्रहण वर, तेरी आत्मा का स्वरूप सिद्धांतों में ऐसा बतलाया है- अमितगति आचार्य ने सामायिक पाठ में कहा है यथा-

विभासते यत्र मरीचिमालिर्न विद्यमाने भुवनावभासि ।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

[श्री अमितगति-सूरि-विरचित 'भावना-द्वात्रिंशतिका']

अर्थ- जिसमें लौकिक सूर्य नहीं रहते हुए भी तीन लोक को प्रगट करने वाला ज्ञानसूर्य प्रकाशमान हो रहा है, ऐसा सूर्य निश्चयनय से अपने आत्मा में ही मौजूद है ऐसा आप्त देव तेरा ही आत्मा है। सो हे आत्मन् तू उसका ही शरण ग्रहण कर। संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो तेरी आत्मा को बिना किये इस संसार के दुःखों से छुटकारा दिला सके।

आगे फिर भी उसी सामायिक पाठ में कहा गया है कि-

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥ २७ ॥

[श्री अमितगति-सूरि-विरचित 'भावना-द्वात्रिंशतिका']

अर्थ- जिस शरीर के साथ इस आत्मा को रहते हुए अनन्तकाल बीत गया फिर भी इन दोनों में परस्पर में एकता नहीं पाई गई फिर बतलाओ उस आत्मा के साथ अत्यन्त भिन्न पुत्र, मित्र, स्त्री आदि की एकता कैसे हो सकती है? यदि विचार किया जाय तो ऐसा है कि शरीर के ऊपर का यदि चमड़ा दूर कर दिया जाय तो रोम के छेद उसमें कैसे रह सकते हैं? क्योंकि वे छेद तो शरीर के चमड़े के ही आश्रय से रहते हैं। ऐसे ही हे आत्मन्! तेरे जितने भी मिलने जुलने वाले हैं वे सब इस शरीर के छूटते ही छूट जायेंगे लार (साथ) क्या जाने वाला है यही दिखाते हैं- सज्जन- चित्तवल्लभ में कहा है कि-

यद्यब्दाञ्छ ति तत्तदेव वपुषे दत्तं सुपुष्टं त्वया,
सार्द्धं नैति तथापि ते जड मते मित्रादयो यान्ति किम् ।
पुण्यं पापमिति द्वयञ्च भवतः पृष्टे नुयातीहते,
तस्मान्मास्मकृथा मनागपि भवान्मोहं शरीरादिषु ।।११।।

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ']

सवैया

जो कुछ मांगत वस्तु सुपोषक, तूं तनको नित देत अज्ञानी।
तोहु नहीं यह तो संग जावहि, मित्रनकी फिर कौन कहानी॥
पुण्य रू पाप चलैं तब पीछहु, तू इन दोउनको अगवानी।
यौं लाखिकै तन आदितें नेह, तजौ यह मोह महा दुखदानी॥

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ', श्लोक ११ का पद्यानुवाद- कवि मेहरचन्द]

अर्थ- हे जड़ बुद्धि चेतन! अब तो विचार कर, यह तेरा जड़ शरीर जो जो पुष्ट पदार्थ चाहता है सो सो तू इसे बराबर देता है, तो भी यह तेरे साथ नहीं जाता है और पहिले भी यह शरीर किसी के साथ नहीं गया है। फिर स्त्री पुत्र मित्रादिक तो जा ही कैसे सकते हैं। तेरे साथ में तो तेरे द्वारा उपार्जित पुण्य पाप ही जावेगा, इसलिए तू चेत, सम्हल, ख्यालकर जो पदार्थ अनादिकाल से साथ है वह ही साथ नहीं जाता फिर कुटुम्ब मित्रादि तो इसी भव के साथी हैं वह साथ में कैसे जावेंगे? न जाये तो इसमें आश्चर्य ही नहीं है। क्योंकि ये तो सब स्वार्थ के ही साथी हैं। ऐसा सज्जनचित्तवल्लभ में दिखलाया है सो ही कहते हैं।

शार्दूलविक्रीडित छन्द

शोचन्ते न मृतं कदापि वनिता यद्यस्ति गेहं धनं,
तच्चेन्नास्ति रुदन्ति जीवनधिया स्मृत्वा पुनः प्रत्यहम् ।

कृत्वा तद्दहन क्रियां निज-निजव्यापार चिन्ताकुलाः,
तन्नामापि च विस्मरन्ति कतिभिः सम्वत्सरैः योषिताः॥१२॥

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ']

सवैया

जो घर में धन हो, कदापि करै तिय सोच मरे बलमा की।
जो नहिं हो धन तौ नित रोबत, धार हिये अभिलाष जिवा की।।
दग्ध किये पर सर्व कुटुंबिन स्वार्थ लगैं ममता तज ताकी।
केतिक वर्ष गये अबलाजन, भूलहिं नाम न लै सुधिवाकी ॥१२॥

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ', श्लोक १२ का पद्यानुवाद- कवि मेहरचन्द]

अर्थ- हे प्राणियो तुम रात और दिन जिस कुटुम्ब के कारण पाप करते हो उनका व्यवहार तुम्हारे साथ इस प्रकार का होता है कि जिसको देखकर विवेकीजन त्याग की तरफ झुक जाते हैं। देखो यदि घर में धन हो तो पति के मर जाने पर स्त्रियां शोक नहीं करतीं, क्योंकि धन के होने से उनके वा सारे कुटुम्ब के सांसारिक सुख में कोई बाधा नहीं आ सकती है। यदि घर में धन न हो तो प्रतिदिन मरे हुए को स्मरण कर कर इसलिये रोती हैं कि हम अपना समय कैसे निकालेंगे क्योंकि धन का संग्रह कर पोषण करने वाला तो अब कोई रहा ही नहीं, इसलिये हम कैसे जीवेगीं या इस कुटुम्ब का पालन पोषण कैसे होगा? पति की दग्धक्रिया हो जाने बाद क्या स्त्री क्या कुटुम्ब के लोग सभी अपने- अपने व्यापार में लग जाते हैं कुछ वर्षों बाद उसको बिलकुल ही भूल जाते हैं। बतलाना ये है कि संसार का व्यवहार बिलकुल ही स्वार्थ से भरा हुवा है। कविवर द्यानतरायजी ने धर्मविलास में कहा है-

कुण्डलिया

यह संसार असार है, कदली वृक्ष समान ।
यामैं सारपनो लखै, सो मूरख परधान ॥
सो मूरख परधान, मानि कुसुमनि नभ देखै ।
सलिल मथै घृत चहै, शृंग सुंदर खर पेखै ॥
अगनिमाहिं हिम लखै, सर्पमुखमाहिं सुधा चह ।
जान जान मनमाहि, नाहिं संसार सार यह ॥ 30 ॥

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक',]

कवित्त ३१ मात्रा

तात मात सुत नारि सहोदर, इन्हैं आदि सब ही परिवार ।
इनमैं वास सराय सरीखो, 'नदी नाव संजोग' विचार ॥
यह कुटुंब स्वारथकौ साथी, स्वारथ विना करत है ख्वार ।
तातैं ममता छांडि सुजान, गहौ जिनधर्म सदा सुखकार ॥ 31 ॥
चेतनजी तुम जोरत हो धन, सो धन चलै नहीं तुम लार ।
जाकौं आप जानि पोषत-हौ, सो तन जरिकै है है छार ॥
विषै भोगिकै सुख मानत हौ, ताकौ फल है दुःख अपार ।
यह संसार वृक्ष सेमरकौ, मानि कह्यौ मैं कहूं पुकार ॥ 32 ॥

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

इन छन्दों का भाव ऊपर आ चुका इसलिए पुनः नहीं लिखा जा रहा है। मतलब यह है कि इस आत्मा के साथ अनादिकाल से जो मोह का साथ लगा हुआ है उससे यह जीव स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब धन, धान्यादि में इतना उलझा हुआ है कि अपने आपको बिलकुल भूला हुवा है, जानता हुवा भी गड्ढे में पड़ता है। देख रहा है कि सारा संसार स्वार्थ से अन्धा बन रहा है, प्रेम और द्वेष स्वार्थ के बनने बिगड़ने से बनते हैं,

पिता पुत्र को, और पुत्र पिता को, स्त्री पति को और पति स्त्री को, मालिक सेवक को और सेवक मालिक को, भाई बहिन को बहिन भाई को, भाई भाई को तभी तक प्यारे लगते हैं या इनमें परस्पर में तभी तक प्रेम रहता है जब तक स्वार्थ का बनाव रहता है, स्वार्थ यदि नहीं बनता है तो उसी समय से एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। यहां तक कि प्राणों तक के प्यासे हो जाते हैं। इस तरह की संसार की हालत देख कर ही एक ज्ञानी अपनी भावना नीचे लिखे छंद में व्यक्त करता हुआ कहता है-

सरसौं समान मुख नहीं कहूं गृहमाहिं,
दुःख तौ अपार मन कहांलौं बताइयै ।
तात मात सुत नारि स्वारथके सगे भ्रात,
देह तौ चलै न साथ और कौन गाइयै ॥
नरभौ सफल कीजै और स्वाद छांड़ि दीजै,
क्रोध मान माया लोभ चित्तमैं न लाइयै ।
ज्ञानके प्रकासनकौं सिद्धथान बासनकौं,
जीमैं ऐसी आवै है कि जोगी होइ जाइयै॥78

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

अये भव्यात्माओ! वास्तव में देखा जाय तो संसार में भ्रम से सुख की कल्पना की जाती है, सुख है नहीं। यहां तो दुख ही दुख भरा पड़ा है। जिन कुटुम्बियों को सुख के लिए कल्पित किया जाता है वे भी धोखे की टट्टी ही सिद्ध होते हैं। जिस देह के भरण पोषण के लिए नाना प्रकार के पाप किये जाते हैं वह भी कभी साथ नहीं देता और का तो कहना ही क्या है, इसलिए इस प्राप्त किये हुए नर भव को सफल

करो, इन इन्द्रियों के विषयों के भोगने में जो आनन्द आता है वह क्षणिक तथा नश्वर है उससे परांमुखता धारण करनी चाहिए तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को अपने हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए, ज्ञान के प्रकाश करने को तथा सिद्धस्थान में निवास करने के लिए मन में ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि एकल विहारी साधु बन जाऊं।

वास्तव में देखा जाय तो ज्ञानी आत्मा संसार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता होने से वह किसी भी इन्द्रिय के विषय में लवलीन नहीं होता है। इसलिए हे आत्मन्! अब तो चेतो, अनादिकाल से आज तक विषय कषायों में ही तुम फंसे रहे अब तो शाश्वतिक कल्याण करने का भाव लाओ, यदि ऐसा तुमने नहीं किया तो यह अमूल्य मनुष्य पर्याय तुम्हारे हाथ से व्यर्थ ही निकल जावेगी और तुझे बार बार परिभ्रमण जन्य दुःख उठाने पड़ेंगे। यदि यह मौका हाथ आ गया है तो इसको अब व्यर्थ मत जाने दो। मनुष्य पर्याय प्राप्त करके क्या कर्तव्य करना चाहिए यह बतलाया जाता है उसको ध्यान में लो।

सबसे पहिले मरण आदि के भयों से भयभीत नहीं होना चाहिए, ऐसे भयों को रखने से तुम अपनी जीवन नौका को पार नहीं लगा सकते, इसलिए वस्तु स्वरूप का विचार कर तुम्हें निडर होना चाहिए, जो सम्यग्ज्ञानी होता है वह संयोग वियोग का जरा भी विचार नहीं करता है, वह तो पर पदार्थों के सम्बन्ध को अनित्य जान कर उनसे अपने आपको अलग रखने का ही उद्योग करता है। जितने भी पदार्थ हैं पर्याय रूप से सब नश्वर ही हैं, जीवन मरण तो पर्याय रूप हैं, दश प्राणों का यथायोग्य संबंध होना जीवन है और उनका वियोग होना मरण है। कोई ऐसा समझता हो कि आत्मा का उत्पाद और नाश होता है सो ऐसा समझना तो भ्रम है आत्मा (जीव) का कभी न तो

उत्पाद हुआ है न होता है, और न होवेगा। वह तो अजर अमर है, अनादिनिधन है, इस बात का केवल जैन धर्म ही नही कहता है, सनातन धर्म के बड़े बड़े विद्वानों का भी यही अभिमत है। देखिये गीता इस विषय में क्या सिद्धांत बतलाता है, उसका कहना है कि-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।23।।

[गीता - अध्याय 2]

अर्थ- आत्मा को न कोई शस्त्र छेदन करता है। न अग्नि जलाता है, न जल गलाता है और न वायु सुखाता है। आत्मा का नाश किसी उपाय से नहीं होता है। आत्मा सत पदार्थ है असत नहीं है। इसलिये उसका नाश तो कदापि नहीं हो सकता है। पंचास्तिकाय में लिखा है-

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।। 15 ।।

[श्री कुंदकुंद आचार्य देव विरचित 'पंचास्तिकाय']

अर्थ- न तो भाव का (सत का) नाश ही होता है और न अभाव (असत) का उत्पाद ही होता है जो सत्पदार्थ हैं वे अपने गुण पर्यायों में उत्पाद व्यय करते रहते हैं। इसी भाव का गीता में श्लोक है-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।16।।

[गीता - अध्याय 2]

इस श्लोक का भी ऊपर के अनुसार ही अर्थ समझना चाहिये। आत्मा पदार्थ सत्स्वरूप है इसलिए इसका अभाव त्रिकाल नहीं हो सकता है।

जिसने आत्मा स्वरूप को नही समझा है वह शरीर और आत्मा को एक ही मानता है ऐसा जीव बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी कदाग्रही होता है उसे सदसत् का ज्ञान नहीं होता मिथ्यादृष्टि बाह्य पदार्थों में ममत्व रखता है। इस बात का जरा भी विचार नहीं करता है कि ये दृश्यमान अचेतन और चेतन पदार्थ मेरे हो सके हैं या नहीं? इस बात का विवेक तो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों के विषय में जो धारणा रखता है उसका दिग्दर्शन सामायिक पाठ में इस प्रकार बतलाया है-

न सन्ति बाह्याः मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र!मुक्त्यै॥

[श्री अमितगति-सूरि-विरचित 'भावना-द्वात्रिंशतिका' श्लोक 24]

अर्थ- दृश्यमान धन धान्यादिक बाह्य पदार्थ कोई भी मेरे नहीं हैं और मैं भी इन रूप कभी भी नहीं हो सकता हूं, इसलिए हे भद्र! ऐसा निश्चय करके बाह्य पदार्थों का त्याग करके मुक्ति प्राप्त करने के लिये सदा स्वस्वरूप में तत्पर रहो। अर्थात् अपने स्वभाव में स्थिर रहो, हे आत्मन् तुम्हारा रूप क्या है इस बात को भी बतलाया है-

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।

[श्री अमितगति-सूरि-विरचित 'भावना-द्वात्रिंशतिका' श्लोक 25]

अर्थात- हे आत्मन् तुम अपने आपको देखने वाले हो अतः ऐसा निश्चय करो कि मैं निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला हूं। यह कथन शुद्ध निश्चय नय की विवक्षा से हैं; ऐसे स्वरूप की प्राप्ति प्रयत्न करने से होती है। इसके लिये मिथ्यात्व का सबसे पहिले अभाव करना चाहिये, क्योंकि कहा गया है कि-

मिथ्याभाव अभाव तैं, जो प्रगटै निज भाव।
सो जयवंत रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव॥

[पण्डितप्रवर टोडरमलजी कृत 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' - अध्याय 2 - मंगलाचरण]

अर्थात् मिथ्यात्व अभाव होने पर निजभाव का प्रगट होना ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। अनादि काल से आत्मा कर्मों के संबंध से मलीन हो रहा है इससे अपने स्वरूप की पहिचान नही हो पाई। अपने स्वरूप की पहिचान न होने से सच्चे आत्मिक सुख का अनुभव भी नहीं हुआ। जो सच्चा सुख है उसको तो बैरी कर्मों ने घात रक्खा है, यदि कर्म नाश कर दिये जाय तो सच्चे सुख का अनुभव स्वतः स्वभाव होने लग जाय। कर्मों के संबंध में आत्मा पराधीन है, जहां पराधीनता है वहां सुख है ही नहीं इसलिये सबसे पहिले कर्मों से आत्मा को अलग करने का प्रयत्न करना चाहिये।

जीव की, दो दशाएं होती हैं (१) बंधरूप (२) मोक्षरूप कर्मसहित जीव की दशा को बंध दशा कहते हैं और कर्म से अलग होने पर जीव की जो दशा होती है उसको मोक्ष दशा कहते हैं। मोक्षदशा बंधदशा पूर्वक ही होती है। जिस का बंध नही होता उसकी क्या मुक्ति होगी? अब प्रश्न ये होता है कि क्या जीव हमेशा से ही बंध दशा में है या किसी समय कारणवश बंध दशा में हो गया है? इस प्रश्न का उत्तर हमारे इस प्रश्न से हो जाता है कि तिल में जो तेल और खली है वह जब से तिल है तभी से है या बाद में तैल खली का संबंध हो गया है? जो उत्तर हमारे प्रश्न का हो सकता है वही उत्तर आपके प्रश्न का समझना चाहिये। कहने का मतलब ये है कि जैसे तिल में तेल और खली का अथवा खदान से निकलने वाले सुवर्ण में मिट्टी आदि का संबंध अनादि काल से है उसी तरह जीव के साथ कर्म का संबंध अनादि काल से। यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि संबंध तो किसी निमित्त

को पाकर होता है आपके जीव कर्म के संबंध होने में निमित्त क्या है? यदि आप निमित्त स्वीकार करते हैं अर्थात् पहिले तो जीव के साथ कर्म का संबंध नहीं था बाद में निमित्त पाकर कर्म का बंध हो गया ऐसा स्वीकार करते हो तो सबंध अनादि काल से है ऐसा नही कहा जा सकता है, क्योंकि जो संबंध किसी निमित्त से होता है उसकी आदि जरूर होनी चाहिये! जिसकी आदि होगी वह अनादि हो नही सकता? दूसरी बात यह है कि जिसकी आदि नहीं होती है उसका अन्त भी नहीं है जीव कब उत्पन्न हुवा तथा उसका अंत कब होगा ऐसा निर्णय नहीं हो सकता है, उसी तरह जीव कर्म का बन्ध अनादिकाल से है तो उस बन्ध से मुक्ति कभी होनी ही नहीं चाहिए?

इसका समाधान करने के लिए सिद्धान्त में ऐसा बतलाया गया है कि बन्ध दो तरह का होता है एक अनादि- बन्ध दूसरा सादि बन्ध। अनादि बन्ध में कारण की या अन्य निमित्त की कोई आवश्यकता नहीं होती है। नवीन बन्ध में कारण अथवा निमित्त की आवश्यकता हो सकती है। आपने पुद्गल परमाणुओं के बन्ध के विषय में शास्त्रों में सुना होगा कि पुद्गल परमाणुओं का नवीन बन्ध स्निग्ध रूक्ष गुण के निमित्त से ही होता है परन्तु सुमेरु पर्वत आदि अनादिकाल से ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं, पुद्गल स्कन्धों में बन्ध के निमित्त का कुछ प्रयोजन नहीं है उसी तरह नवीन परमाणुओं का कर्मरूप होना तो राग द्वेष आदि भावों से ही होता है परन्तु अनादि पुद्गल परमाणु जो कर्मरूप अवस्था को प्राप्त होते हैं जिनका सम्बन्ध अनादि से है उनके लिए निमित्त का कोई प्रयोजन नहीं है, यदि अनादि बन्ध में भी निमित्त माना जायगा तो फिर वह अनादि न रह कर सादि हो जायगा। इसलिए जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से ही मानना चाहिए।

वास्तव में देखा जाय तो रागादि भाव का कारण तो द्रव्य- कर्म है और द्रव्य कर्म का कारण रागादि भाव हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि इस कथन से तो इतरेतराश्रय दोष का प्रसंग आ जायगा तो यहां ये दोष नहीं आ सकता और कह सकते हैं कि द्रव्यकर्म रागादि भावकर्मों के आश्रय हो जायेंगे और भावकर्म द्रव्यकर्म के आश्रय हो जायेंगे! परन्तु यहां पर यह दोष नहीं लग सकता, क्योंकि आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है और वह स्वयं सिद्ध है उसके लिए किसी कारण की आवश्यकता नहीं है। युक्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि रागादि भावकर्म यदि द्रव्यकर्म के बिना भी जीव में पाये जायेंगे तो भावकर्म जीव के निज भाव हो जायेंगे, जब भावकर्म जीव के निज भाव हो जायेंगे तब जीव को शुद्ध भावों की प्राप्ति होना असम्भव हो जायगी, कारण कि निज भाव के अभाव होने से द्रव्य का ही अभाव हो जाता है।

अब आपका प्रश्न ऐसा हो सकता है कि जब जीव के साथ कर्मों का संबध अनादिकाल से है तब यह जीव उन कर्मों से कैसे छूट सकता है और कैसे मुक्त हो सकता है! क्योंकि जो संबंध अनादि का है वह हमेशा ही रहेगा, वह तो बीच में कभी छूट ही नहीं सकता? इसका समाधान ऐसा है कि जैसे ऊपर के दृष्टांत में बतलाया गया है कि तिल में तेल और खली अनादिकाल से है परंतु पीछे से तिलों को कोल्हू में पैरने पर तैल खली दोनों तत्त्व अलग अलग हो जाते हैं, ठीक इसी तरह जीव और कर्म का संबंध भी अनादि काल से है परंतु तप आदि कारणों के मिल जाने से वे कर्म भी आत्मा से अलग अलग हो जाते हैं यह बात अनुमान और शास्त्र दोनों से सिद्ध होती है।

ऊपर बतलाया गया है कि जीव शुद्धनय से रूप रस गंध स्पर्श तथा वर्ण रहित होने से अमूर्तीक है और पुद्गल चेतन गुण रहित तथा स्पर्श रस गध वर्ण सहित होने से मूर्तीक तथा जड़ है, इस प्रकार जीव और कर्म की एक जाति नहीं है, ये तो लक्षण और संज्ञादि की दृष्टि से भिन्न २ ही हैं। जीव का कोई भी प्रदेश किसी समय किसी भी प्रकार कर्म रूप नहीं हो सकता है एवं कर्म का भी कोई प्रदेश किसी समय जीव रूप नहीं हो सकता है, इस प्रकार ये दोनों द्रव्य भिन्न २ हैं और आगे भी भिन्न ही रहेंगे इससे यह सिद्ध हुवा कि जैसे एक जीव के साथ कर्मों का संबंध अनादि काल से है एवं जितने भी संसारी जीव हैं उन सब के साथ कर्मों के साथ अनादि संबध हैं।

अब मुझे यह बतलाना है कि कर्मों से आत्मा को स्वतंत्र करने के लिये भारी प्रयत्न भी करना पड़ता है और उपसर्ग भी सहन करने पड़ते हैं। कर्म का उदय भी बड़ा बलवान होता है बड़े- २ दुर्धर तपस्वियों का भी पीछा नहीं छोड़ता है। " श्रेयांसि बहु विघ्नानि" अर्थात् जितने अच्छे अच्छे काम किये जाते हैं उनमें नियम से विघ्न आया करते हैं। क्या आप लोगों ने ग्रंथों में कथाओं द्वारा नही जाना है कि राग द्वेष त्यागी, संसार शरीर और भोगों से विरागी, आत्मान्वेषी मुनि लोग अपने उपयोग को निर्मल रखते हुए कैसे-कैसे दुख सहते हैं। अब मैं कहता हूं-

(१) एक सुकुमाल मुनि हुए हैं जिन्होंने पूर्व भव में अपनी भौजाई को लात मारी थी, वह भौजाई रौद्रध्यान से मर कर व्याघ्री हुई, उसके कई बच्चे हुए। एक वक्त की बात है, श्री सुकुमाल मुनि वन में ध्यान लगा कर आत्मा का चिंतवन कर रहे थे व व्याघ्री बच्चों सहित आई, पूर्व भव का बैर चितार कर मुनिराज के शरीर में से खून चूस गई,

मुनि ने अपने पुरुषार्थ में कमी नहीं की, उपसर्ग को समता भाव से जीतकर मरे और सर्वार्थसिद्धि विमान में देव हुए, अब वहां की आयु पूर्ण कर इस लोक में मनुष्य होकर मोक्ष जावेंगे। यह फल समता भावों को धारण करने का है।

(२) सुकौशल मुनिराज की मां ने परपर्याय में सिंहनी की पर्याय धारण कर सुकौशल मुनि के शरीर का भक्षण किया फिर भी मुनिराज अपने लक्ष्य से जरा भी नहीं विचलित हुए अन्त में उन्होंने सिद्धि पाई।

(३) गजकुमार मुनिराज के श्वसुर ने उनके शरीर पर अग्नि जलाई, मुनिराज ने शरीर जलने के साथ तमाम कर्मों को भस्म कर केवलज्ञान जगाया और हमेशा के लिए सिद्धिपद प्राप्त किया।

(४) श्री सनत्कुमार मुनिराज के शरीर में ७०० वर्ष तक कुष्ट रोग की वेदना रही परन्तु मुनिराज अपने कर्तव्य मार्ग से जरा भी चलायमान नहीं हुए जिससे उन्होंने आत्म- सिद्धि प्राप्त की।

(५) ललितघटादि ३२ मुनिराज नदी में बह गये उन्होंने अपने भावों में संक्लेशता नहीं आने दी।

(६) धर्मघोष मुनिराज ने तृषा परिषह सहकर प्राण त्याग दिये, पानी पीने की जरा भी इच्छा नही की, धन्य हैं ऐसे मुनिराज

(७) श्रीदत्त मुनि पर देवों ने उपसर्ग किया। लेकिन मुनिराज ने अपनी समाधि नही त्यागी वे तो अपने आत्मध्यान में ही लीन रहे।

(८) वृषभसेन मुनि की प्रतिज्ञा शिला पर बैठकर ध्यान करने की थी एक वक्त एक देव ने उनकी शिला को खूब तप्त कर दी फिर भी वह

ध्यान से विचलित नही हुए। कितने ही विघ्न आने पर भी अपने ध्यान से विचलित नही होना ,यही तो आत्मवीरों की वीरता है।

(९) अभयघोष मुनि को चंदु बैरी ने बाणों से छेदित किया था उन्होंने अपनी स्थिरता को नही छोड़ा।

(१०) विद्युच्चोर नामक चोर मुनिव्रत धारण करने पर कर्मोदय से खूब सताया गया परंतु वह अपने गृहीत व्रतों से चलायमान नही हुवा।

(१२) चिलाति पुत्र मुनिराज के शरीर में वेदना हुई जिससे उनके शरीर में मोटे-मोटे कीड़े पड़ गये फिर भी उन्होंने समाधि नहीं त्यागी।

(१३) दंडक नामक मुनिराज के शरीर को उनके शत्रु ने बाणों से घायल कर दिया लेकिन मुनिराज ने अपनी स्थिरता का त्याग नहीं किया।

(१४) अभिनंदन आदि मुनिराज को दंडक राजा ने घानी में पेल दिया। मुनिराजों की संख्या ५०० थी, परंतु उनमें से किसी ने भी अपनी समाधि को नहीं छोडा।

(१५) चाणक मुनिराज को गओं के बाडे में डालकर आग लगा दी उन्होंने अपनी स्थिरता को रंच मात्र भी नहीं छोड़ी।

(१६) हस्तिनापुर में सातसौ मुनिराजों पर घोर उपसर्ग हुवा परंतु मुनिराजों ने अपने धैर्य को नहीं छोड़ा।

(१७) पांडव मुनिराजों को लोहमयी आभूषण गर्म कर पहिना दिये गये, पर वे अपने ध्यान से चलायमान नहीं हुए! इत्यादि और और भी अनेक मुनिराज हुए हैं जिन्होंने कर्मोदय से होने वाले भयंकर से भयंकर उपसर्गों को सहन कर स्वर्ग मोक्षधाम प्राप्त किया।

हे आत्मन् तू विचार कर ऐसे-ऐसे महा पुरुषार्थियों को भी कर्मों ने पछाड़ने की कोशिश की फिर सामान्य आदमी की तो बात ही क्या है। अतएव तू इन धनादि में मूर्छा का परिहार कर। देख धनादि में तृष्णा रखने वाले प्राणियों की क्या दशा होती है उसका भी विचार कर-

अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥
[इष्टोपदेश टीका में उद्धृत]

अर्थ- धन के कमाने में, कमाये हुए की रक्षा करने में, आय में तथा व्यय करने में महान दुःख होता है इसलिये दुःख के कारण धन को धिक्कार है। ये भव्य प्राणी जिसके कमाने में दिनरात घोर परिश्रम के साथ भूख प्यास के तथा सर्दी गर्मी दुःख भोगता हुआ समय बिताता है, जिसके होने में अपनी मान बढ़ाई समझता है जिसके लिये परस्पर बैर भाव कलह युद्धादि किये जाते हैं, जिसके बढाने के लिये हिंसादि पापों में अविचारित प्रवृत्ति की जाती है। जिसके होने पर विराने भी अपने हो जाते हैं, जिसके मद में आकर धर्माधर्म का विवेक नहीं रहता है वह धन आत्मा का बड़ा अनिष्ट करने वाला है। इसलिये हे भाई श्रीगुरु इष्टोपदेश में जो उपदेश देते हैं उसको भी सुनो-

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।
नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥45॥
[आचार्य श्री गुणभद्र विरचित 'आत्मानुशासन' ; इष्टोपदेश टीका में उद्धृत]

अर्थ- सज्जनों की संपदाएं शुद्ध धनों से बढती हैं ऐसी बात नहीं है। क्योंकि समुद्र में चाहे जितना स्वच्छ जल क्यों न पहुंच जावे परंतु समुद्र कभी अघाता नहीं है। इसी तरह धन से तृप्ति कभी होती नहीं है।

इसलिये हे आत्मन्! तू यही ख्यालकर कि तेरा स्वभाव इन धनादि से बिलकुल भिन्न है अपने स्वभाव को ही अपना मान। ये धनादि पुद्गल द्रव्य हैं इनसे तेरे स्वभाव का कोई संबंध नहीं है। परम पूज्य आचार्य प्रवर अमृतचन्द्राचार्य अपने नाटक समयसार में कहते हैं-

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।१०।।

[आचार्य प्रवर अमृतचन्द्र विरचित 'समयसार कलश' (जीव अधिकार)]

अर्थ- पर द्रव्य और पर द्रव्य के भाव तथा पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले अपने विभाव भावों से सर्वथा भिन्न, संपूर्ण लोकालोक को जानने वाला, आदि अंत से रहित, संपूर्ण भेदभावों से रहित एकाकार, जिसमें संपूर्ण संकल्प विकल्प के भाव नष्ट हो गये हैं ऐसे आत्मा के स्वभाव को शुद्धनय प्रगट करता है। यहां पर संकल्प विकल्प का ऐसा अर्थ जानना चाहिये कि द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में आपा मानना संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद मानना विकल्प है। बनारसीदासजी ने छंदोबद्ध समयसार [नाटक समयसार] में ऐसा कहा है-

आदि-अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है,
पर-सरूप पर-जोग-कल्पना-मुक्त है।
सदा एकरस प्रगट कही है जैन में,
सुद्ध-नयातम वस्तु विराजै बैन में।। 11।।

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (जीव - द्वार)]

इससे यही निश्चय करना चाहिये कि तुम्हारा स्वभाव जब पर द्रव्यों से भिन्न है तब ये कुटुम्ब आदि तो अपने आप भिन्न हैं अतएव जिस

कुटुम्ब के लिये तू दिन रात पाप करता है वे कुटुम्बी जन तेरे किसी काम के नहीं हैं। जब-जब तेरे ऊपर कर्म के उदय में विपत्ति आवेगी तब- तब ये कुटुम्बीजन कोई काम नहीं आवेगे। सो ही कहा है।

जिस कुटुम्ब के हेतु तें कीने बहुविध पाप
वह कुटुम्ब इत रह गयो पड़ा नरकमें आप॥

संसार में यही एक विचित्र बात देखने में आती है कि कमाई के माल के भोगने वाले तो सभी कुटुम्बी हैं पर अशुभ गतियों के दुख पाप करनेवाले को ही भोगने पड़ते हैं। एक अनुभवी का कथन है।

मेरी लक्ष्मी खाने को कुटुंबी भये अनेक ।
अब या विपत्ति विलास में सगा भया नहीं एक॥

इससे हे आत्मन्! विचार करो तुम किसके लिये किन उपायों से धन कमाते हो वे इस कमाये हुए धन को ये कुटुम्बीजन ही भोगेंगे तुम तो अकेले ही इस धन को छोड़ कर परलोक गमन करोगे। वहां पर शुभाशुभ कर्मों के रस का अनुभव करोगे। अतएव इस मोह श्रृंखला को तोड़ और अपने स्वरूप ग्रहण करने का निश्चय कर। क्योंकि तेरी ये असत्कल्पना है कि इन कुटुंबियों में से भी मेरा कोई साथी होगा। अरे ये कुटुम्ब क्या तेरा साथी होगा जब कि दिन रात जिसका पालन पोषण किया जाता है ऐसी छायावत संग में रहने वाली यह देह भी तेरे साथ नहीं जाती है। एक कवि ने कहा है-

देखो चिदानंद राम ज्ञान दिष्टि खोल करि,
तात मात भ्रात सुत स्वारथ पसारा है।
तू तौ इन्हैं आपा मानि ममता मगन भयौ,
बह्यौ भ्रममाहिं जिनधरम विसारा है ।।

यह तौ कुटुंब सब दुःखहीकौ कारन है,
तजि मुनिराज निजकारज विचारा है।
तातैं गहौ धर्म सार स्वर्गमोक्षसुखकार,
सोई लहै भवपार जिन धर्म धारा है ।।34।।

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

तात मात सुत नारि सहोदर, इन्हैं आदि सब ही परिवार ।
इनमैं वास सराय सरीखो, 'नदी नाव संजोग' विचार ॥
यह कुटुंब स्वारथकौ साथी, स्वारथ विना करत है ख्वार ।
तातैं ममता छांडि सुजान, गहौ जिनधर्म सदा सुखकार ॥ 31 ॥

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक']

कुटुंब पाप के फल भोगने में कोई साथी नहीं है इस विषय की एक कथा वैष्णव धर्म में प्रसिद्ध है और वह इस तरह की है-

एक वाल्या नाम का भील था। वह एक जंगल के चौराहे पर जाकर बैठ जाता था वहां से जो कोई भी निकलता था वह भील उसके सब सामान को लूट लेता था उसके पास तीर कमान था। उसके डर से सभी लोग अपना माल असबाब देकर चले जाते थे। एक दिन वहां एक साधुओं का संघ आ निकला। उस भील ने उनके साथ भी यही बर्ताव करना चाहा उस समय उन साधुओं ने उस भील से कहा हे भाई जो तू इस तरह का अन्याय कर पाप से धन कमाता है, इसके फल से तू नरक में जावेगा जहां तुझे बहुत समय तक कठोर यातनाएं भोगनी पड़ेंगी। इस बात को सुनते ही उस भील के हृदय में तीर सरीखा घाव लगा। उसने पूछा आप लोग ये बात कह रहे हैं। आपकी कही हुई बात मुझे कुछ भी नहीं जचती, जब मैं धन कमाकर ले जाता हूं तो उसका भोग तो मेरा सारा कुटुम्ब करता है और पाप मैं अकेला ही क्यों भोगूंगा?

जैसे हम लोग मिलकर द्रव्य का भोग करते हैं उसी तरह पाप का उपभोग सभी लोग मिलकर करेंगे। तब एक साधुजी ने कहा कि तू जाकर उन लोगों से पूछ कि जो मैं किसी उपाय से धन कमाकर लाता हूं उसके पाप के भागी तुम लोग भी होते हो या नहीं? इस प्रश्न का वे लोग जो कुछ उत्तर दें वह हमें वापिस आकर सुनाओ। ऐसा सुनकर वह भील बोला- मालूम होता है ऐसा भुलावा देकर तुम लोग भाग जाना चाहते हो मैं भी तुम्हारे दाव पेंचों को अच्छी तरह समझ गया हूं। तब वे साधु महात्मा लोग बोले- तू हम लोगों की वृत्ति को नहीं जानता इसलिये ऐसा समझ गया, साधु कभी असत्य नहीं कहते, न किसी से दावपेंच की ही बात करते हैं। विश्वास रक्खो तुम्हारे वापिस आये बिना हम लोग यहां से हट नहीं सकते तू जाकर बड़े ही संतोष से अपने कुटुंबियों से पूछकर आ, इस बात से उस भील को विश्वास हो गया और वह अपने गांव की तरफ गया, वहां जाकर उसने अपने पिता से पूछा पिताजी मैं जो धन कमा कर लाता हूं उस पाप में भागीदार आप हो या नहीं? उत्तर में पिता ने कहा भाई तू आज ऐसी बात क्यों पूछता है, जब तू बालक था तब हम कमाकर लाते थे उस पाप के लिये तूने आजतक कभी प्रश्न नहीं किया? फिर आज क्यों पूछ रहा है? पिता का उत्तर सुनकर वह भील चुपके से अपनी माता के पास पहुंचा और उससे भी वैसा ही प्रश्न किया, माता ने उत्तर में कहा- बेटा जब मैंने तुझे नव मास तक उदर में रक्खा तथा जन्म देने के बाद बहुत दिनों तक गीले सूखे में सोकर तेरा लालन पालन किया बडी-बड़ी विपत्तियां झेलीं तब तुझे ऐसी शंकाएं नहीं हुई अब जब तेरी शादी विवाह हो गया कमाने लायक हो गया तब ऐसे प्रश्न करने लगा? अपनी मां के ऐसे वचन सुनकर कुछ शर्मीला होकर भील अपनी धर्मपत्नी के पास जाकर पूछने लगा- हे प्रिये तुम भी कहो कि

जो धन मैं कमाकर लाता हूं उसमें जो पाप होता है उसमें पाप की भागिनी तुम भी हो या नहीं? इस प्रश्न को सुनते ही वह स्त्री उत्तर देने लगी कि हे स्वामिन् आपका कार्य हमारा पोषण करना है और हमारा कार्य आपकी आज्ञा पालना है फिर बतलाइये कि आपके कमाये का पाप मेरे को क्यों लगेगा? और मेरा किया हुआ पाप आपको क्यों लगेगा! यहां से भी भील निराश होकर अपनी संतान के पास पहुंचा और उनके सामने भी वही प्रश्न रख दिया परन्तु उसकी संतान ने ऐसा उत्तर दिया कि हे पिताजी जब कि आप शिशु अवस्था में थे तब आपके माता पिताजी ने आपसे ऐसा प्रश्न पूछा था क्या? तब नहीं तो फिर आप हमसे ऐसा क्यों पूछते हैं? इतना सुनते ही भील निराश होकर जहां तपस्वीजन ठहरे हुए थे वहीं पर पहुंचकर उसने अपने कुटुम्ब की सब कही हुई वार्ता सुनाई, सुनते ही साधु महात्माओं ने फिर समझाया हे भाई अब तेरी समझ में आ गया होगा कि जिस कुटुंब के लिए यह भोला प्राणी नाना प्रकार के पाप करता है उन पापों के फल का भोक्ता वही अकेला होता है सारा कुंटुंब तो माल खाने का ही साथी है। कुटुंब तो विपत्ति आने पर साथ ही छोड़ देने वाला है इसलिये इस अधम कृत्य करके तू क्यों पाप का भागी होता है? इस बात को सुनकर भील पश्चाताप करने लगा और उसने उस काम को न करने की प्रतिज्ञा की और साधु महात्माओं से विनय की कि भगवन अब आप हमारा उद्धार कीजिये और मुझे भी आप सरीखी दीक्षा दीजिये इसके उपरांत साधुओं ने उसे संसार से निवृत्त होने का मार्ग बताया और वे लोग अपने अभीष्ट स्थान को चले गये। इस कथा से इतनी ही शिक्षा लेनी चाहिये कि भव्यों को पापों से अपने को बचाते हुए अपने आत्मा के स्वरूप की पहिचान करनी चाहिये अब अपने आत्मा का स्वरूप बतलाने को कहा जाता है-

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः॥७॥

[श्री अकलंक देव कृत 'परमानंद स्तोत्र']

अर्थ- जिस प्रकार कमल के पत्र पर पड़ा हुआ पानी सर्वदा उससे भिन्न ही रहता है उसी प्रकार यह आत्मा शरीर में शरीराकार रहता हुवा भी शरीर से भिन्न ही रहता है ऐसा इसका स्वभाव है। यह भी देह से लिप्त नहीं होता है। हे आत्मन् तू अब भी अपने उपयोग को स्थिर कर अपने स्वरूप का ही विचार कर, इन तमाम पर पदार्थों से अपना संबंध विच्छेद कर, जिससे तेरे साथ लगी हुई ये कर्म कालिमा धुलकर साफ हो जावे। सच बात तो ये है कि रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म ये पुद्गल की पयायें हैं, इनसे तो तुम्हारा रंचमात्र भी संबंध नहीं है। जिसको तू आत्मा मानता है वही परमात्मा बन जाता है, तू भी परमात्मा ही बन सकता है। पर अभी तक तूने आपापर का भेद ज्ञान न कर अपने को पहिचानने की कोशिश ही नहीं की। केवल संसारी झंझटों में फंसा पड़ा है इसी से तेरी ये दशा हो रही है।

परमानंद स्तोत्र में आत्मा (संसारी) की चिंताओं के चार भेद बतलाये हैं तदुक्तं-

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा॥४॥

[श्री अकलंक देव कृत 'परमानंद स्तोत्र']

अर्थ- अपने आत्मा का चिंतवन करना उत्तम चिंता है, प्रकृष्ट मोह अर्थात् शुभ राग से दूसरे जीवों के भले होने- की चिंता करना मध्यमा

चिंता है, काम भोगों का चिंतवन करना अधमा चिंता है, दूसरे जीवों के अहित करने का चिंतवन करना अधमाधम चिंता है। इनमें से पहली चिन्ता ही ऐसी चिन्ता है जिससे आत्मा का कल्याण हो सकता है बाकी चिन्ताएं संसार को ही बढाने वाली हैं। शिक्षा ये है कि दूसरों का बुरा विचारने से अपना क्या भला हो सकता है। ऐसी चिन्ता से दोनों लोक बिगड़ते हैं। अज्ञानी जीव अधम और अधमाधम चिन्ताओं में ही ज्यादा फंसे रहते हैं। ऐसी चिन्ताओं को आर्त रौद्रध्यान कहते हैं शास्त्रों में आर्त रौद्र ध्यान का फल- नरक और तिर्यंच गति के दु:ख भोगना बतलाया गया है। अये आत्मन्! तू ऐसी चिन्ताओं का त्याग कर। तुझे तो निरंतर ऐसा ही अभ्यास करना चाहिये जिससे तू तमाम सांसारिक पदार्थों से निर्ममत्व होकर अपने आपका चिन्तवन कर सके। तेरा रूप क्या है इसको सुन-

निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंग-विवर्जितम्।
परमानन्द-सम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ।।३।।

[श्री अकलंक देव कृत 'परमानंद स्तोत्र']

अर्थ- हे आत्मन् तेरा रूप राग, द्वेष, मोह, क्रोध मान, आदि विकारों से रहित है। अनेक प्रकार की सांसारिक बाधाओं से मुक्त है, बाह्य दश और अभ्यंतर चौदह ऐसे चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित है, उत्कृष्ट स्वात्मोत्थ और आत्मा से ही साध्य ऐसे आनंद से परिपूर्ण, शुद्ध केवलज्ञान रूप चैतन्य ही जिसका लक्षण है ऐसा तेरा रूप है। तुझे अपने स्वरूप का ऐसा ही श्रद्धान करना चाहिये। अन्य प्रपंचों में तुझे नहीं फंसना चाहिये, क्योंकि जो अन्य प्रपंचों में फंस जाते हैं वे न तो अपने स्वरूप को ही पा सकते हैं और न संसार से बाह्य हो सकते हैं। उपयोग ऐसा चंचल है कि वह कहीं न कहीं अपना कार्य करता ही

रहता है, कभी विषयों में उलझ जाता है, कभी शुभ राग में और कभी विशुद्ध परिणति रूप हो जाता है। जो कषाय रूप परिणमन कर जाये तो वह किसी समय भी अपना भला नहीं कर सकता है। कहा भी है-

कषायै रंजितं चितस्तत्त्वं नैवावगाहते ।
नीली-रक्तेऽम्बरे रागो दुराधेयो हि कौंकुमः ।। 17 ।।

[श्री अकलंक देव कृत 'स्वरुप सम्बोधन']

अर्थ- कषायों से रंगा हुवा चित्त वस्तु के असली स्वभाव को कभी नहीं निश्चय कर सकता है, जैसे नील रंग से रंगे हुए वस्त्र पर कसूमल रंग अपनी आभा नहीं- दिखला सकता है। जहां कषाय है वहीं संसार है। जहां कषाय नहीं है वहीं पर सच्चा आत्मिक सुख है। यह जीव जो अनादि काल से लेकर आज तक जन्म मरण के दुःख उठाता आ रहा है उसका कारण कषाय ही हैं। इसलिये हे आत्मन् इस कषाय का ही त्याग करना अपना हित मान । नरक निगोद के जो भयंकर दुख भोगने पड़ते हैं उसमें कषाय ही कारण है इसलिये हे भव्यों जिसे दुर्लभ मनुष्य भव को तुमने बड़ी ही कठिनता से प्राप्त किया है उसका उपयोग तत्त्वज्ञान के करने में करो, इन कषाय चोरों के द्वारा दूषित मत होने दो। जरा विचार तो करो- महान पुण्यकर्म के उदय से स्वर्ग में इंद्र पर्याय रूप परिणत जीव इस अमूल्य मनुष्य पर्याय के पाने के लिये कितना लालायित रहता है, वह इतना लालायित इसलिये रहता है कि जिस संयम की आराधना करके यह जीव तीन लोक का पूज्य तीर्थंकर पद वा सिद्धपद मिलता है वह मनुष्य पर्याय से ही मिलता है। अब तुम्हारी समझ में आ गया होगा कि मनुष्य पर्याय के प्राप्त करने को क्यों इतना आग्रह किया जाता है। इसलिये

अब भी तू सम्हल जा। एक विद्वान ने आत्मा के रूप के जानने के लिये कहा है-

परमाह्लाद-सपन्नं, राग-द्वेष-विवर्जितम्।
अर्हन्तं देहमध्ये तु, यो जानाति स पण्डितः ॥२०॥

[श्री अकलंक देव कृत 'परमानंद स्तोत्र']

अर्थ- हे आत्मन् ऊपर कहे अनुसार परमानंद स्वरूप राग द्वेष रहित, अर्हंत देव को जो ज्ञानी पुरुष अपने हृदय में विराजमान हुवा देखता जानता है, वही विद्वान व समझदार है, ऐसे जीव को ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये अपने आत्मा को स्वतंत्र व परमात्मा समझकर उसी तरह की प्रवृत्ति करो, यही बात आगे की कविता में बतलाई जाती है।

दोहा

आप आपके रूपको जाने सो शिव होय।
पर मैं अपनी कल्पना करे भ्रमे जग सोइ॥8॥

[मुन्शी नाथूराम जी कृत योगसार (योगिन्दु देव) पद्यानुवाद 'स्वानुभव दर्पण']

जो परमातम सिद्धमें, सो ही या तन माहिं ॥
मोह मैल दृग लंगि रह्यो, तातैं सूझैं नाहिं ॥ ९ ॥
मोह मैल रागादिको, जा छिन कीजे नाश ॥
ता छिन यह परमातमा, आपहि लहै प्रकाश ॥ १० ॥
काहे को भटकत फिरै, सिद्ध होन के काज ॥
राग द्वेष को त्यागदे, 'भैया' सुगम इलाज ॥ १९ ॥
जैसो शिव खेतहि बसै, तैसो या तनमाहिं ॥
निश्चय दृष्टि निहारतें, फेर रंच कहुँ नाहिं ॥ १५ ॥

[भैया भगवतीदास जी कृत 'परमात्मा छत्तीसी' (ब्रह्म विलास)]

आतम परमातम विषैं शक्ति व्यक्ति को भेद।
नातर उभय समान हैं कर निश्चय तजि खेद ॥ 22 ॥

[मुन्शी नाथूराम जी कृत योगसार (योगिन्दु देव) पद्यानुवाद 'स्वानुभव दर्पण']

उलट भावतें बंध है शिव स्वभावतें जान।
बंध मोक्ष परिणाम से कारण और न आन॥७॥

[मुन्शी नाथूराम जी कृत योगसार (योगिन्दु देव) पद्यानुवाद 'स्वानुभव दर्पण']

जप तप संयम सब भलो, राग द्वेष जो नाहिं ॥
राग द्वेष के जागते, ये सब सोये जांहिं ॥ २२ ॥
दोष आतमा को यहै, राग द्वेष के संग ॥
जैसें पास मजीठके, वस्त्र और ही रंग ॥ २७ ॥
तैसें आतम द्रव्यको, राग-द्वेष के पास ॥
कर्म रंग लागत रहै, कैसें लहै प्रकाश ॥ २८ ॥
राग द्वेषके नाश तें, परमातम परकाश ॥
राग द्वेष के भासतें, परमातम पद नाश ॥ २३ ॥
कर्मनकी जर राग है, राग जरे जर जाय ॥
प्रगट होत परमातमा, भैया सुगम उपाय ॥ १८ ॥
इन कर्मनको जीतिबो, कठिन वात है मीत ॥
जड़ खोदै विन नहिं मिटै, दुष्टजाति विपरीत ॥ २९ ॥
लल्लोपत्तो के किये, ये मिटवे के नाहिं ॥
ध्यान अग्नि परकाशकें, होम देहु तिहि माहिं ॥ ३० ॥

[भैया भगवतीदास जी कृत 'परमात्मा छत्तीसी' (ब्रह्म विलास)]

हे भव्यात्मन् ऊपर की कारिकायें पढ़ कर विचार तो सही, आचार्य तुझे तेरा स्वरूप प्राप्त करने के लिए क्या अच्छी शिक्षा दे रहे हैं। यहां

आचार्य यह शिक्षा दे रहे हैं कि संसार की जड़ राग द्वेष है राग द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं। ऊपर तूने इस बात को अच्छी तरह जान लिया है कि इस संसार में इस आत्मा को दुख देने वाले कर्म हैं ये कर्म राग द्वेष से आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं। नाटक समयसार में कहा गया है कि-

कर्मजाल-वर्गणासौं जग में न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोगसौं।
चेतन-अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषैं-विष-रोगसौं।।
कर्मसौं-अबंधसिद्ध, जोगसौं अबंध-जिन,
हिंसासौं अबंध-साधु, ग्यातविषैं-भोगसौं।
इत्यादिक वस्तु के मिलापसौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध-उपयोगसौं।।4।।

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध - द्वार)]

मतलब ये है कि कार्माणवर्गणा, योग, हिंसा, इन्द्रियों के विषय भोग जग में यही कर्मबन्ध के कारण कहे जाते हैं, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जहां सिद्ध भगवान ठहरे हैं वहां एक नहीं, दो नहीं, किन्तु अनन्तानन्त कार्माण जाति की पुद्गल वर्गणायें भरी हुई हैं, परन्तु वे रागादि के बिना सिद्धों की आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होती हैं। तेरहवें गुणस्थान में भगवान अर्हंत के मन वचन काय के योग रहते हैं, परन्तु उनके भी राग द्वेष के न होने से कर्मों का बन्ध नहीं होता है। महाव्रती मुनिराजों से अबुद्धिपूर्वक हिंसा हो जाती है, परंतु उनके भी राग द्वेष न होने से कर्म बंध नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अव्रती रहते हुए पांचों इन्द्रियों के विषयों को भोगते हैं पर उनमें

उनकी आसक्ति न होने से कर्मबंध नहीं होता, किंतु संवर निर्जरा होती है। इससे ये बात सिद्ध होती है कि कार्माण वर्गणाएं, योग,हिंसा और पंचेन्द्रिय विषय इनके निमित्त से नहीं बंधती हैं। उनके बंध होने में केवल अशुद्ध उपयोग ही कारण है। कविवर द्यानतरायजी ने भी कहा है-

रागदोषतैं आप ही, परै जगतके माहिं।
ग्यान भावतैं सिव लहै, दूजा संगी नाहिं॥12॥

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'-'अध्यात्मपंचासिका']

इस छंद में भी द्वेष को ही संसार का कारण तथा कर्म बंध का कारण बतलाया है। अत एव राग द्वेष को ही तू अपनी आत्मा से भिन्न करने की कोशिश कर, क्योंकि राग द्वेष तेरी आत्मा रूप नहीं हैं तेरी आत्मा का रूप तो शुद्ध चैतन्य ही है। यही बात एक कवि ने अपने छन्द में कही है-

रागदोष मोहभाव जीवकौ सुभाव नाहिं,
जीवकौ सुभाव सुद्धचेतन वखानियै ।

[पण्डित प्रवर द्यानतराय जी विरचित 'धर्म विलास'- 'उपदेश शतक' छंद 75]

अत एव विचार तू खूब विचार, तेरा रूप तो कुछ है और इन राग द्वेष ने क्या बना रक्खा है? आगे फिर कहते हैं-

कर्मनके संयोगतें, भये तीन परकार ॥
एक आतमा द्रव्यको, कर्म नचावन हार ॥ १६ ॥

[भैया भगवतीदास जी कृत 'परमात्मा छत्तीसी' (ब्रह्म विलास)]

---

*आत्मा तो एक ही प्रकार का है परन्तु कर्मकृत अवस्था के कारण तीन प्रकार कहा गया है। यथा-

बहिरातम, अन्तर-आतम, परमातम जीव त्रिधा है।

[पण्डित प्रवर दौलतराम जी विरचित 'छहढाला'- तीसरी ढाल , छंद 4]

अर्थात्- आत्मा तीन प्रकार का माना गया है। एक बहिरातम दूसरा अंतरातम और तीसरा परमातम।

बहिरातम ताको कहै, लखै न ब्रह्म स्वरूप ॥
मग्न रहै परद्रव्यमें, मिथ्यावंत अनूप ॥ ३ ॥

[भैया भगवतीदास जी कृत 'परमात्मा छत्तीसी' (ब्रह्म विलास)]

अर्थात् – जिसको आत्मा और पर का भेद अनुभव या प्रतीति में नहीं आता, जो शरीर को ही आत्मा मान बैठा है। और जो पर पदार्थ में ही मग्न रहता है वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा कहलाता है।

निजपर का अनुभव करे, पर तज ध्यावे आप।
अंतरात्मा जीवसो, नाश करे त्रय ताप॥8॥

[मुन्शी नाथूराम जी कृत योगसार (योगिन्दु देव) पद्यानुवाद 'स्वानुभव दर्पण']

जिस आत्मा को आपा पर की भेद प्रतीति हो जाती है वह सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा कहलाता है।

सुद्धातमको ग्रहण कर जो निज माहि समाय।
वह आतम परमातमा जावन मुक्त कहाय॥

जिस आत्मा के अशुद्धभाव दूर हो गये हैं और निज स्वभाव में जो स्थित हो गया है तथा जिसके अनंत गुण प्रगट हो गये हैं वह परमात्मा अर्हंत देव जीवन मुक्त कहलाता है।

हे आत्मन् देख कैसी कैसी युक्तियों से व शास्त्र प्रमाण से तुझे समझाया कि संसार का कारण राग द्वेष मोह हैं, परन्तु तू ऐसा अज्ञानी हो रहा है कि इन रागादि को छोड़ता तो नहीं है बल्कि उनसे चिपटता ही है। इससे तो यही समझ में आता है कि तेरा भला होना

बहुत मुश्किल है। आगे फिर तुझे समझाने को कहा जाता है-

दोहा

ज्यों दारूके गंजको, नर नहिं सकै उठाय ॥
तनक आग संयोगतैं, छिन इकमें उड़ि जाय ॥ ३१ ॥
राग द्वेष को त्याग के, धर परमातम ध्यान ॥
ज्यों पावे सुख संपदा, भैया इम कल्यान ॥ ३५ ॥

[भैया भगवतीदास जी कृत 'परमात्मा छत्तीसी' (ब्रह्म विलास)]

जो शुद्धातम अनुभवे त्याग उपाधिक भाव।
शीघ्र मुक्ति पदसो लहै यो जिनवर दर्शाव॥36॥

[मुन्शी नाथूराम जी कृत योगसार (योगिन्दु देव) पद्यानुवाद 'स्वानुभव दर्पण']

हे भव्य जीव हो! देखो हजारों मन के बारूद के ढेर को उठाने के लिए कितना समय और कितने आदमियों की जरूरत पड़ती है परंतु जरा सी अग्नि के बताते ही उस ढेर का एक क्षण में पता भी नहीं लगता। उसी तरह तुम आत्मध्यान रूपी अग्नि का यदि सेवन करने लग जाओ तो इन रागादिक वैभाविक भाव का पता भी न लगे कि वे कहां चले गये इसलिए तुझको अपने आत्मरूप के पहिचानने का प्रयत्न करना ही श्रेयस्कर है। सो हे भव्य तुझे इसी का सेवन करना चाहिये। अब विचारना चाहिये कि बड़े-बड़े आचार्यों ने शास्त्रों में आत्मा को ऊपर उठने का ही उपाय बतलाया है सारे ग्रन्थों में संसार से छूटने की और मुक्ति प्राप्त करने की ही प्रेरणा की गई है। जिसको यह जीव खूब वांचता है सुनता है लेकिन फिर भी इसका उद्धार क्यों नहीं होता है! इस बात का जब हम विचार करते हैं तो यही निश्चय होता है कि इस जीव के पीछे कोई ऐसी चीज लगी हुई है जिससे ये

जीव प्रयत्न करता हुआ भी अपने मार्ग से विचलित हो जाता है, या विपरीत प्रयत्न को सत्प्रयत्न समझ लेता है। वह चीज क्या हो सकती है! ऐसा विचार करने पर निश्चय हो जाता है कि वह चीज मिथ्यात्व ही हो सकता है, क्योंकि मिथ्यात्व ही आस्रव बंध का कारण है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व संवर, निर्जरा तथा मोक्ष का कारण है, मोक्ष आत्मा का निज स्वभाव अर्थात् जीव की कर्ममल रहित अवस्था है। जीव अज्ञानी मिथ्यात्वी कैसे होता है? इस प्रश्न का उत्तर ऐसा जानना चाहिये कि "जैसे कोई मनुष्य दूसरे की चीज पर अपना अधिकार जमाना चाहता है तो उस मूर्ख को लोग अन्यायी कहते हैं। यदि वह अपनी ही संपत्ति का उपयोग करता है तो लोग उसे न्यायशील कहते हैं। उसी प्रकार जबतक यह जीव पर द्रव्यों में अहंकार ममकार करता है तब तक अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रहता है, जब ऐसी खराब आदत को छोड़कर आध्यात्मिक विद्या का बार बार अभ्यास करता है तथा आत्मिक रस का स्वाद लेता है, तब प्रमाद को छोड़ कर पुण्य पाप का भेद हटा देता है और क्षपक श्रेणी चढ़ कर केवली भगवान बन जाता है, पीछे थोड़े ही समय बाद आठ कर्मों से रहित होकर अष्ट गुणों का अधिपति होकर सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। सिद्ध पद प्राप्त हो जाने पर आत्मिक सुख की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे सुख की जिस का वियोग फिर कभी भी नहीं होने पाता है। रागी आत्माएं सांसारिक पदार्थों के मिलने में सुख का अनुभव करते हैं पर विरागी आत्मा तमाम पर पदार्थों के त्याग करने तथा सन्तोष धारण करने में सुख मानते हैं। इसलिए हे भव्यों ! राग द्वेष को त्यागने के लिए आत्मा से भिन्न परपदार्थों के संयोग का त्याग जरूर करो। देखो जब किसी जीव का मनुष्य पर्याय रूप में जन्म होता है उस समय जीव के साथ सिवाय एक शरीर के और कोई चीज नहीं रहती है,

जन्म हो जाने के बाद जैसा जैसा मोह जाग्रत होने लगता है वैसी वैसी आत्म स्वरूप से विमुखता होकर परपदार्थों के संयोग करने की तीव्र लालसा बढने लगती है, जैसी जैसी लालसा बढ़ती जाती है वैसी परपदार्थ मिलाने की रुचि उत्कृष्ट होने लगती है। उस रुचि में तीन लोक समा जाते हैं पर तृप्ति नहीं हो पाती है। इसलिए यदि तुम्हें कुछ भी विवेक है, तुम कुछ भी अपना भला करना चाहते हो तो श्री सद्गुरु की आज्ञा मानो उन्होंने जैसा अपने स्वरूप के प्राप्त करने का मार्ग बतलाया है उसी मार्ग का अवलम्बन करो, उसी से तुम्हारा भला होगा। पर दुःख है कि कर्मोदय के वशवर्ती ये संसारी प्राणी गुरुओं की शिक्षा की अवहेलना कर दिन रात हाय- २ में ही फंस रहे हैं। इनको धर्म का लेश भी नहीं सुहाता है। ये तो धनोपार्जनादि कार्यों में ऐसे गरक हो रहे हैं मानों उन्हीं से इनका उद्धार हो जाने वाला है। सो ठीक ही है जिनका संसार दीर्घ काल तक रहना है उनको तो धर्म के वचन या सद्गुरुओं की श्रेष्ठ शिक्षाएं पित्त ज्वर वाले को दूध की तरह कटुक ही मालूम होती हैं। ये जरूर है कि संसार में रहते हुए जीविकोपार्जन का उपाय तो करना ही पड़ता है, बल्कि करना ही चाहिए, पर दिन रात धनोपार्जन में ही लगे रहना और धर्म को बिलकुल छोड़ देना ये ठीक नहीं है, किसी विद्वान ने कहा है कि-

कला बहत्तर पुरुष की, तामें दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥

[कविवर द्यानतराय जी]

पुरुष के करने के लिए बहत्तर तरह की कलायें बतलाई गई हैं परन्तु उनमें दो कलायें मुख्य कही गई हैं

(१) जीव की जीविका का उपाय, दूसरी जीव के उद्धार होने की कला। गृहस्थों को तीन पुरुषार्थ अविरोध रूप से सेवन करते रहने की आज्ञा आचार्यों ने की है। वे तीन पुरुषार्थ- धर्म, अर्थ और काम हैं।

एक विद्वान ने कहा है कि-

त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति न तं विना यद्भवतोर्थकामौ॥

[श्री सोमप्रभाचार्य विरचित 'सूक्तिमुक्तावली']

अर्थ- धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों का अविरोध रूप से सेवन न करने वाले पुरुष की मनुष्यायु बिलकुल पशु के समान व्यर्थ है। उन तीन पुरुषार्थों में भी धर्म की खास प्रधानता है। क्योंकि अर्थ और काम पुरुषार्थ ,बिना धर्म पुरुषार्थ के नहीं हो सकते हैं। इससे ऐसा निश्चय करना चाहिये कि धन कमाते हुए तथा उसका उपयोग करते हुए धर्म को नहीं भुला देना चाहिये। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है। कि लोग पुण्य कर्म के उदय से खूब धनादि की प्राप्ति करके धर्म से पराङ्मुख हो जाते हैं, और कहने लगते हैं कि पुण्य कर्म के सम्बन्ध से यदि हमने धन प्राप्त किया है तो अपने मन माफिक उसका उपभोग क्यों न कर लेवें। ऐसे विचार के लोग धन के मद में आकर धर्म को बिलकुल त्याग देते हैं, यहां तक कि देवदर्शन पात्रदानादि से भी दूरवर्ती हो जाते हैं, उनको आचार्य ऐसी शिक्षा देते हैं कि भाई पुण्यकर्म के उदय से यदि धनादि विभूति प्राप्त की है तो उसका उपयोग करो पर, धर्म का ध्यान रखते हुए ही धनादिका उपयोग करो। जैसा कि वज्रनाभि चक्रवर्ती की बारह भावना में कहा गया है-

बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जग माँहिं।
त्यों चक्री सुख में मगन, धर्म विसारै नाहिं॥1॥

[कवि श्री भूधरदास जी विरचित 'वैराग्य भावना: श्री वज्रनाभि चक्रवर्ती']

धन प्राप्त करके जिसने पात्र दानादि कार्य नहिं किये किंतु अपना भरण पोषण करना ही लक्ष्य रक्खा उसको आचार्य शिक्षा देते हैं कि-

भर लेते हैं पेट सभी जिनके संगमें है काया।
पुरुषसिंह है वही भरे जो पेट पराया॥

हे आत्मन् तूने मोहवश जिनको अपना पुत्र, पुत्री, स्त्री, माता आदि माना तथा उन कुटुम्बियों का पालन पोषण किया, सो ये कार्य तो सभी संसारी जीव करते है यदि तुमने भी वैसा किया तो उसमें क्या चतुराई की, इस का नाम चतुरता नहीं है, चतुराई तो इसमें है कि तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे हमेशा के लिये जनम मरण के फन्दे से छूट जाये। ऐसी उचित हालत में भी यदि तूने ऐसा प्रयत्न नहीं किया तो फिर भी उसी जनम मरण के मार्ग पर जाना होगा, इसलिए तू नीचे लिखे उपदेश को ग्रहण कर क्योंकि-

बिन जानेतैं दोषगुनन को, कैसे तजिये गहिये।11।

[पण्डित प्रवर दौलतराम जी विरचित 'छहढाला'- तीसरी ढाल , छंद 11]

अर्थात विपरीत रीति को तो छोड़ना और अनुकुल रीति को ग्रहण करना यही दोष गुण की पहिचान है। अब यही बतलाया जाता है कि विपरीत रीति क्या है? अनादि काल से लेकर अबतक इस जीव ने अपने चिंतवन में आर्तध्यान और रौद्रध्यान को ही अपनाया जिसका कि फल नरक और तिर्यंच गतियों में भयंकर रूप प्राप्त करता आया

है। इसलिये हे भाई अब मैं यहां पर ध्यानों का वर्णन करता हूं सो ध्यान से सुनकर इनका त्याग व ग्रहण कर।

सबसे पहिले मैं ध्यान का स्वरूप उसके भेद और उन का फल वर्णन करता हूं सो तू सुन-

उत्तम संहननवाले पुरुष के अन्तर्मुहूर्त पर्यंत एकाग्रता से चिंता का निरोध करना ध्यान है। संहनन छह प्रकार के होते हैं- वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असप्राप्तास्रपाटिका। इन छहों में पहिले तीन सहनन वालों के ध्यान हो सकता है, सोभी अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। मोक्ष होने का कारण एक वज्रवृषभनाराच संहन नही होता है। ध्यान के चार भेद होते हैं १) आर्त २) रौद्र ३) धर्म्य और ४) शुक्ल इनमें से-

आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा।
धर्मं शुक्लं च सद्ध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः॥34॥
[श्री नागसेन मुनि विरचित 'तत्त्वानुशासन']

आर्त ध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों ध्यान दुर्ध्यान या खोटे ध्यान हैं इसलिये इन दोनों ध्यानों का हमेशा त्याग करना चाहिये। धर्म ध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों श्रेष्ठ ध्यान हैं इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषियों को हमेशा उनका ध्यान करना चाहिये क्योंकि ये दोनों ध्यान उपादेय हैं।

अब संक्षेप में इन्हीं का वर्णन किया जाता है-

आर्त ध्यान चार प्रकार का है- उनमें से शत्रु, विष, कंटक आदि अप्रिय पदार्थ का संयोग होने पर उनके दूर करने के लिये बार-बार

विचार करना सो अनिष्ट संयोगज नाम का पहिला आर्तध्यान है। स्त्री पुत्र, धन आदि इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिये बार- २ चिंतवन करना सो इष्ट वियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान है। रोग जनित पीड़ा का बार- २ चिंतवन करना उनके दूर करने को विलाप करना सो वेदना जनित तीसरा आर्तध्यान है। तथा आगामी काल में विषय भोगादि की वांछा करना और उसी विचार में लीन रहना सो निदान नाम का चौथा आर्तध्यान है

यह आर्तध्यान पहिले गुणस्थान से लेकर छट्टे गुणस्थानवर्ती जीवों के हो सकता है। इसका फल अशुभ गतियों के दुख भोगना है।

रौद्रध्यान भी चार तरह का होता है। (१) हिंसानंदी (२) मृषानंदी (३) चौर्यानंदी (४) परिग्रहानंदी। हिंसा के कार्यों में आनंद मानकर उन्ही के सिद्ध करने का चिंतवन करते रहना हिंसानंदी रौद्रध्यान है। झूठ बोलने में आनंद मानना और झूठ ही का चिंतवन करते रहना सो मृषानन्दी रौद्रध्यान है।

चोरी करने में तथा उसके चिंतवन में सदैव मन का लगाना सो चौर्यानंदी रौद्रध्यान है।

परिग्रह की रक्षा करने तथा उसके प्राप्त करते रहने का चिंतवन करने को परिग्रहानंदी कहते हैं। ये परिग्रह ही महान अनर्थ का कारण है इससे ही लोभादि कषाय जाग्रत होते हैं जिनके होने से यह आत्मा ऐसी वैभाविक परिणति में फँस जाता है जिससे अनंत संसार फलता है। जितने झगड़े होते हैं उन सबका कारण परिग्रह ही है। यह रौद्रध्यान पहिले गुणस्थान से पांचवे गुणस्थान तक होता है। इससे अशुभ गतियों में दुःख भोगने पड़ते हैं।

ऊपर बतलाया ही गया है कि ये दोनों ध्यान अशुभ गतियों के ही कारण हैं।

अब परंपरा से व साक्षात् मोक्ष के कारणभूत ऐसे धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का वर्णन करते हैं- धर्म्यध्यान भी चार प्रकार का होता है- १)आज्ञाविचय २)अपायविचय ३)विपाकाचिय और ४)संस्थानविचय

शास्त्र की आज्ञानुसार अर्थ का विचार करना सो आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

ये संसारी प्राणी सन्मार्ग में कैसे आयेंगे, किस प्रकार कुमार्ग का त्याग करेंगे इस विचार में एकाग्र मन लगाना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

कर्म के फल के अनुभव का चिंतवन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है।

लोक के आकार का और उसकी रचना का विचार करना संस्थानविय धर्म्यध्यान है।

धर्म्यध्यान के और भी चार भेद होते हैं- पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

मन में कमल का आकार स्थापित कर फिर कर्मों की प्रकृतियों को उस कमल की पांखुरियों पर स्थापित कर अग्नि की ज्वालादि के विचार से उन्हें भस्म करना और फिर वायुमंडल से उड़ाना इस तरह कल्पित तत्त्वों पर अपने मन को एकाग्रकर उसका स्तंभन करना सो पिंडस्थ धर्म्यध्यान है।

पंचपरमेष्ठी के नमस्कार मंत्र का ध्यान करना सो पदस्थ धर्म्यग्यान है!

अर्हंत देव का उनके गुण शरीरादिक और आत्मीक भावों सहित विचार

करना सो रूपस्थ धर्म्यध्यान है।

केवल शुद्ध आत्मा का विचार करना सो रूपातीत धर्म्यध्यान है। कर्मों की निर्जरा होना तथा आगामी कर्मों का न आना अर्थात् संवर होना ही इन चारों ध्यानों का फल है। मोक्ष का मूल कारण जो शुक्लध्यान है वह केवल सकल श्रुत को धारण करने वाले श्रुतकेवली और केवली के ही होता है। वह भी चार प्रकार का होता है- पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृति। इनमें से पहिले दो ध्यान तो श्रुतकेवली के होते हैं और पिछले दोनों ध्यान निर्मल केवल ज्ञान से विभूषित केवली के होते हैं। पहिला ध्यान तो मन, वचन, काय इन तीनों योगों के द्वारा होता है। दूसरा इन तीनों योगों में से किसी एक के द्वारा होता है। तीसरा काययोग द्वारा होता है। चौथा किसी योग से नहीं होता है वह अयोगकेवली के ही होता है।

पहिले दोनों ध्यानों में परिपूर्ण श्रुतज्ञान ही होना चाहिए और ये दोनों ध्यान शास्त्र पर अवलम्बित हैं तथा विषय से विषयान्तर सहित हैं। पहिला विषय से विषयान्तर सहित है और दूसरा विषयान्तर रहित है। तीसरे चौथे! शुक्लध्यान में न तो योगों का ही अदल बदल है और न श्रुत का ही अवलम्बन है क्योंकि उन दोनों ध्यानों के आधार केवली भगवान हैं।

मोहनीय कर्म के क्षय होने बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय ये तीनो कर्म क्षय होते हैं और तभी केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसके पीछे वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों का नाश कर देने से मोक्ष प्राप्त होता है। इनका नाश शुक्ल ध्यान से

होता है और यह शुक्लध्यान केवल अपने शुद्धस्वरूप आत्मा में निश्चय ज्ञान के द्वारा अथवा बार- बार किये हुए ध्यान और आचरन के द्वारा बाह्याभ्यंतर क्रियाओं का रुकना अर्थात् शुद्धात्मा की केवल आत्मस्वरूप ही परिणति होने लगना जिसको निश्चय चारित्र कहते हैं, प्राप्त होता है। इसी की प्राप्ति से केवलज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा ध्यान केवल महाव्रत धारण करने वाले मुनीश्वर के ही हो सकता है और उन मुनीश्वरों में भी ऐसे मुनीश्वर के होता है जो शुद्ध उपयोग को धारण करने वाले हैं पदार्थों के स्वरूप को भलीभांति जानते हैं, राग द्वेष से रहित हैं, सुख दुःखादि में कभी हर्ष विषाद नहीं करते हैं, जो जिस स्वरूप में ही लीन रहते हैं और चिदानन्द के ज्ञान सुधारस में सदैव मग्न रहते हैं।

तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्दझाणेण।
देवगई धम्मेणं सिवगइ तह सुक्कझाणेण ॥१३॥

[श्री पद्मसिंह मुनिराज कृत 'णाणसार (ज्ञानसार)']

जिन चार प्रकार के ध्यान का वर्णन ऊपर किया गया है उनके धारण करने से आर्तध्यान से तिर्यंच गति, रौद्रध्यान से नरक गति, धर्मध्यान से देवगति, और शुक्लध्यान से शिवगति प्राप्त होती है फिर इसी तत्त्व को स्पष्ट करने को कहते हैं

अट्टरउद्दं झाणं तिरिक्खणारययदुक्ख सयकरणं।
चइऊण कुणह धम्मं सुक्कज्झाणं च किं बहुणा ॥१४॥

[श्री पद्मसिंह मुनिराज कृत 'णाणसार (ज्ञानसार)']

हे आत्मन्! आर्तध्यान से तो तिर्यंच गति होती है और रौद्रध्यान से नरक गति मिलती है इन गतियों में भगवान समान यह जीव नाना

प्रकार के दुःखों का सामना करता है। इसलिए हे आत्मन्! इन दोनों ध्यानों को दुःख का साधन समझ कर सर्वथा त्याग करो तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अभ्यास करो जिससे तुझे उस प्रकार के दुःखों का सामना न करना पड़े। इसी बात को फिर बतलाते हैं।

सुत्तत्थधम्ममग्गणवयगुत्तीसमिदिभावणाईणं।
जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं च इह भणियं ॥१६॥

[श्री पद्मसिंह मुनिराज कृत 'णाणसार (ज्ञानसार)']

सूत्रार्थ, १४ मार्गणा (गति १ इन्द्रिय २ काय ३ योग ४ वेद ५ कषाय ६ ज्ञान ७ संयम ८ दर्शन ९ लेश्या १० भव्यत्व ११ सम्यक्त्व १२ संज्ञित्व १३ और आहारक (१४) दश धर्म (उत्तमक्षमा १ मार्दव २ आर्जव ३ सत्य ४ शौच ५ संयम ६ तप ७ त्याग ८ आकिंचन ९ ब्रह्मचर्य) पांच विरति (अहिंसा १ सत्य २ अचौर्य ३ ब्रह्मचर्य ४ परिग्रहत्याग ५) तीन गुप्ति (मनगुप्ति १ वचनगुप्ति २ कायगुप्ति ३) समिति पांच (ईर्यासमिति १ भाषासमिति २ एषणा ३ आदाननिक्षेपण ४ प्रतिष्ठापना ५) बारह भावनाएं (अनित्य १ अशरण २ संसार ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ अशुचि ६ आस्रव ७ संवर ८ निर्जरा ९ लोक १० बोधि-दुर्लभ ११ और धर्मभावना १२) इनका चिंतवन करना धर्मध्यान कहलाता है। अब इनका पृथक्- पृथक खुलासा करते हैं-

१) उत्तम क्षमा- क्रोध नहीं करना तथा संसार के तमाम जीवों से मैत्री भाव का होना उत्तम क्षमा कहलाता है। अगर किसी जीव ने कर्म के उदय से किसी जीव के साथ कोई तरह का दुर्व्यवहार रूप गाली देना, मारना आदि किया हो तो उसको सुनकर या सहकर मन में क्लेश न करते हुए उसको क्षमा कर देना सो ही क्षमा धर्म है।

२) उत्तममार्दव- मानकषाय को जीतना ही मार्दव धर्म है। इस धर्म को धारण करने की यही परीक्षा है कि जिस समय कोई अन्य पुरुष किसी प्रकार के गर्व के आवेश में आकर अनादर कर देवे तो उस समय अपनी आत्मा में अनादर करने वाले के प्रति किसी प्रकार के प्रतिकार करने की भावना नहीं होना और तत्त्व स्वरूप का चिन्तवन करते हुए उसको सहन कर जाना ही मार्दव धर्म है।

३) उत्तम आर्जव- माया कषाय का जीतना आर्जव धर्म है। मन वचन काय को सरल रखना, किसी के प्रति कपट भाव नहीं रखना, मन में जैसे बात हो उन्हीं को वचन से प्रगट करना तथा वैसी ही काय की चेष्टा करना सो आर्जव धर्म है।

४) उत्तम सत्य- सर्वथा झूठ बोलने का त्याग करना सत्य धर्म है। हित मित प्रिय प्रमाणीक वचन बोलना, निंद्य गुह्य और अवद्यवचन नहीं बोलना, दूसरों की आत्मा, में संक्लेश उत्पन्न करने वाले वचन नहीं बोलना जो जैसा हो उसको वैसा ही कहना सत्यधर्म है।

५) शौचधर्म- तत्त्वविवेक पूर्वक लोभ कषाय का त्याग करना शौचधर्म है। शरीर की सफाई रखना, स्नान करना, तेल फुलैल लगाना, साफ कपड़े पहनना शौच नहीं है असली शौच तो हृदय से लोभ का त्याग करना ही शौचधर्म है क्योंकि लोभ ही संपूर्ण पाप का जनक है।

६) संयमधर्म- छह काय के जीवों की रक्षा करना तथा पांचों इन्द्रियों और मन को वश में करना इसी का नाम संयम है। संयम ही तमाम कर्मों का नाश करने वाला है इसी से आत्मा निर्मलता होती है बडे बड़े पुण्यात्मा तीर्थंकरों ने भी इसी संयम से सिद्धपद प्राप्त किया। ऐसा

दुर्लभ संयम मनुष्य भव में ही धारण किया जा सकता है।

७) उत्तम तप- इन्द्रियों और मन के विषयों में उत्पन्न होने वाली अभिलाषाओं को रोकना तथा आत्मा में रहने वाले कषाय रूपी मल के शोधने के लिए संयम रूपी अग्नि को प्रज्वलित करना तप है। लोभ कषाय के उदय से नाना प्रकार की इच्छायें पैदा होती हैं जो इच्छाएं आत्मा को संयम से दूर रखती हैं ऐसी इच्छाओं का रोकना ही तप है।

तप दो प्रकार का होता है। (१) बाह्य (२) आभ्यन्तर।

जो तप बाह्य जनों के अनुभव में आ जावे वह बाह्य तप है। जो अपनी आत्मा में ही किया जाय वह आभ्यन्तर तप है। बाह्य तप छः प्रकार का होता है- अनशन (संयम की सिद्धि, राग का उच्छेद, कर्म का नाश, ध्यान और स्वाध्याय की सिद्धि, इन्द्रियों का विजय, काम का नाश, निद्रा, प्रमाद के विजय के लिए भोजन का त्याग करना) अवमौदर्य (संयम का पालन, निद्रा का विजय, त्रिदोष का उपशम, आलस्य का अभाव, कायोत्सर्ग की दृढ़ता, ध्यान की निश्चलता आदि के लिए अल्प आहार करना, अर्ध भोजन, चतुर्थांश भोजन एक ग्रास पर्यंत लेना) वृत्तिपरिसंख्यान (संयमी मुनि का एक गृह पांच वा सात गृह में भोजन के लिए नियम करना तथा एक मुहल्ला, दो मुहल्ला तथा रास्ता चौहटा आदि का नियम, दातार के भोजन का नियम कर भोजन के लिए नगर ग्रामादिक में जाना, संकल्प के अनुसार भोजन मिले तो लेना नहीं वापिस अपने स्थान को जाना और उपवास धारण करना) रस परित्याग (इन्द्रिय दमन, तेज की हानि संयम का घात दूर करने के लिए जो घृत दुग्ध दही तैल गुड़ लवण ऐसे छः प्रकार के रस उसका त्याग करना) विविक्त शय्यासन (प्राणियों की पीड़ा रहित

प्रासुक क्षेत्र में निवास करने की इच्छा करने वाले साधु का एकान्त में ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यानादि की सिद्धि के लिए शयन आसन करना)। कायक्लेश (शरीर में ममत्व के त्यागी जिनेन्द्र के मार्ग से अविरोधी ऐसा अनेक प्रकार का काय का कष्ट रूप तप करना जैसे कठोर भूमि में बहुत समय तक एक आसन की अचलता में ठहरना, मौन धारण करना, ग्रीष्म ऋतु पवन की शिखर पर अचल कायोत्सर्गादिक धारण कर तीव्र आतापन योग धारण करना वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे वर्षाकृत घोर बाधा सहना, शीत ऋतु में नदी के तीर तथा चौहट पर दृढ शय्यासन कर रात्रि व्यतीत करना, सर्प, बिच्छू, कानखजूरे, डांस इत्यादि जन्तुओं द्वारा की गई बाधा तथा दुष्ट मनुष्य व्यंतरादि देव, सिंह व्याघ्रादि द्वारा की आई तीव्र बाधाओं को सहना) आभ्यंतर तप भी छह प्रकार के होते हैं- प्रायश्चित्य (प्रमाद वा अज्ञानता से उत्पन्न दोषों को अपने गुरु के सामने प्रगट कर उसका शोधन करना) विनय तप (सन्मान पूर्वक जिन सिद्धान्तों का ग्रहण अभ्यास करना, निःशंकितादि गुण सहित शंकादि दोष रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के धारियों के पांच प्रकार चारित्र के श्रवण मात्र से रोमांचादि सहित अन्तरंग में भक्ति उपजना, चारित्र के अंगीकार करने में परिणाम करना तथा पूजने योग्य आचार्यादिक के प्रत्यक्ष होने पर उठ खड़े होना, प्रणामांजुलि करना, उनके पीछे- पीछे चलना, परोक्ष नमस्कार करना आदि) वैयावृत्य तप (काय की चेष्टा वा अन्य द्रव्य से आचार्यादिक की सेवा टहल करना सो वैयावृत्य है) स्वाध्याय तप (निर्दोष ग्रन्थ तथा ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनों का विनयवान धर्म के इच्छुक भव्य पात्र को सिखाना, पढाना, आपको शब्द में शब्द के अर्थ में सन्देह उत्पन्न हुवा हो तो विनय सहित बहुश्रुतज्ञानियों से प्रश्न करना, गुरुओं की परम्परा से जाने हुए अर्थ

को मन से अभ्यास करना, बारंबार चिन्तवन करना, इस लोक सम्बंधी फल को नहीं चाहता हुआ शीघ्रता और विलम्ब रूप से जो घोषणा के दोष उनसे रहित पाठ करना, दुष्ट प्रयोजन के त्याग से उन्मार्ग से दूर करने के लिए, सन्देह दूर करने के लिए अपूर्व पदार्थ के प्रकाशने के लिए धर्म का कथन रूप उपदेश करना) व्युत्सर्ग तप (बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे २ प्रकार के परिग्रह का त्याग करना) यही तप धर्म है।

८) त्यागधर्म- दश प्रकार (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य- चांदी, सुवर्ण- सोना, धन- पशु आदि, धान्य- अनाज, दासी- दास कुप्य कपड़ादि, भाण्ड- बर्तन) का बाह्य परिग्रह और १४ प्रकार (मिथ्यात्व १ क्रोध २ मान ३ माया ४ लोभ ५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा ११ स्त्रीवेद १२ पुरुषवेद १३ और नपुंसकवेद १४) का त्याग इस प्रकार २४ प्रकार के परिग्रह का त्याग करना त्याग- धर्म है

९) आकिञ्चन धर्म- आत्मस्वरूप से भिन्न जो शरीरादिक उनमें संस्कारादिक के अभाव के निमित्त ये हमारा, ऐसा ममत्वरूप अभिप्राय का अभाव सो आकिञ्चन्य धर्म है।

१०) ब्रह्मचर्य धर्म- पहिली जो नाना प्रकार के कला- गुणों से चतुर ऐसी स्त्रियों का अनुभव किया हो इस समय उनके स्मरण करने का त्याग, तथा स्त्रीमात्र की कथा श्रवण करने का त्याग, रस सुगंधादि से वासित स्त्रियों के संसर्गसहित शय्यासनादिक के संसर्ग का त्याग करना तथा विषयानुराग रहित होकर ब्रह्म जो अपना शुद्ध आत्मा उसमें चर्या कहिये, प्रवर्तना सो ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार कर्मों को रोकने के लिये दश प्रकार के धर्मों का अनुभवन करना चाहिये। ये धर्म आत्मा के ही अंग है आत्मा से भिन्न नहीं है।

आगे चौदह प्रकार की मार्गणाओं का वर्णन करते है-

१) गतिमार्गणा- गतिनामा नामकर्म के उदय से जीव देव मनुष्य तिर्यंच और नरक रूप में जन्म मरण के दुःख उठाता है और अरहट की घड़ी की तरह गति से गत्यंतर में चक्कर लगाया ही करता है जहां जीव को एक निमेष मात्र भी साता नहीं है केवल अनंत दुखों का पात्र ही बना रहता है।

२) इन्द्रियनामा नामकर्म के उदय से यह जीव स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रियों की उपलब्धि करता है। जो इन्द्रियां अपने-अपने योग्य विषयों को ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों में सबसे उत्कृष्ट रूप से विषय ग्रहण करने की शक्ति नेत्र इन्द्रिय की होती है और वह चक्रवर्ती की होती है। क्योंकि चक्रवर्ती के महान पुण्यकर्म का उदय होता है। परंतु इन्द्रियों के विषयों ने उसको भी शांति से नहीं रहने दिया तो अन्य सामान्य व्यक्तियों का तो कहना ही क्या है।

शब्दः शक्तिः हरणे स्पर्शे नागो रसे च वारिचरः।
कृपणः पतंगो रूपे, भूजंगो (मधुपो) गंधेन च विनष्टः॥

दोहा

मृग अलि मीन पतंग गज एक एक में नाश।
जिनके पांचों घट वसे उनकी कैसी आश॥

अर्थ- एक एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर जीवों ने इस संसार में महान दुख उठाया है फिर विचार करो कि जिन जीवों के पांचों इन्द्रियों के विषय लग रहे हों उनकी क्या दशा होनी चाहिये। ये इन्द्रियां ही संपूर्ण पापों की जननी हैं। इनको तृप्त करने के लिये जीव को बड़े- बड़े अनर्थ करने पड़ते हैं।

काय मार्गणा- जातिनामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं। इस काय के छह भेद होते हैं- पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। व्यवहार में काय जीव के ठहरने के आधारभूत ढांचे को कहते हैं। यह ढांचा बादर और सूक्ष्म दो तरह का होता है, सूक्ष्म तो वे जीव हैं जिन का शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि वह न तो किसी से रुकता है और न किसी अन्य को रोकता है। और बादर इससे विपरीत होते हैं। जीव के साथ शरीर का सम्बन्ध अनादिकाल से है और जब तक मुक्ति न हो जावेगी बराबर बना ही रहेगा। यह शरीर चौदहों गुणस्थानों में जीव के साथ पाया जाता है। इसकी अवगाहना छोटी बड़ी सब तरह की होती है। शरीर दुःख का घर है, इसमें पांचों इन्द्रियां होती हैं जिनका वर्णन ऊपर आ चुका है।

योगमार्गणा- पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन वचन काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं। आत्मा की अनंत शाक्तियों में एक योग शक्ति भी है। वह दो प्रकार की होती है- एक द्रव्यरूप दूसरी भावरूप। योग की चंचलता से जो आत्मा में हलन चलन रूप क्रिया होती है उससे नवीन कर्मों का आस्रव होता है। और आस्रव से बंध होता है आस्रव बंध दोनों आत्मा के दुख के कारण हैं। यह योग चार प्रकार का भी होता है- सत्य, असत्य, उभय और अनुभय।

सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते हैं, मिथ्याज्ञान के विषयभूत पदार्थ को असत्य कहते हैं जैसे मरीचिका को जल कहना। दोनों के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते हैं जैसे कमंडलु में "यह घट है" क्योंकि कमंडलु घट का काम देता है इसलिये कथंचित् सत्य

है और घटाकार नहीं है इसलिये असत्य है। जो दोनों प्रकार के ज्ञान का विषय न हो उसको अनुभय कहते हैं जैसे सामान्य रूप से ऐसा मालूम करना कि "यह कुछ है" यहां सत्य असत्य का कुछ भी निर्णय नहीं है इसलिये ऐसे ज्ञान को अनुभय कहते हैं।

वेद मार्गणा- पुरुष, स्त्री और नपुंसक वेद कर्म के उदय से भाव पुरुष, भाव स्त्री,भाव नपुंसक होता है और नाम कर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसक होता है। सो यह भाव वेद और द्रव्य वेद प्रायः कर के समान ही होता है परन्तु कहीं २ विषम भी हो जाता है। इसका विशेष कथन गोम्मटसार से जानना चाहिए।

कषाय मार्गणा- जीव के सुख दुःखादि अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्म रूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है इसलिए इसको कषाय कहते हैं। अथवा सम्यक्त्व देशचारित्र, सकल चारित्र और यथाख्यात चारित्र रूप परिणामों को कषे- घाते न होने दे उसको कषाय कहते हैं। इसके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इस प्रकार चार भेद हैं। इनके भी क्रोध मान माया लोभ के भेद से चार- चार भेद होते हैं इस प्रकार कषाय के उत्तर भेद सोलह होते हैं सम्यक्त्व को रोकने वाली अनंतानुबंधी कषाय है, देशचारित्र को रोकने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय, सकलचारित्र को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय तथा यथाख्यात चारित्र को रोकने वाली संज्वलन कषाय होती है। क्रोध चार प्रकार का होता है- पत्थर की रेखा के समान, पृथ्वी की रेखा के समान तीसरा धूलि की रेखा समान, चौथा जल की रेखा समान मान भी चार प्रकार का होता है-

पत्थर के समान, हड्डी के समान, काष्ट के समान, तथा बेंत के समान। माया भी चार प्रकार की होती है- बांस की जड़ के समान, मेंढे के सींग के समान, गौमूत्र के समान, खुरपा के समान,। लोभ भी चार प्रकार का होता है- कृमिराग के समान, गाडी के ओंगन के समान, शरीर के मल के समान, हल्दी के रंग समान। चारों कषाय यथाक्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न कराते हैं। ये संसार कषाय से ही चलता है। आत्मन्! जब तक तेरे साथ ये कषाय हैं तब तक तुझे कभी भी सच्ची शांति के स्थान का लाभ नहीं हो सकता है।

संसार का प्राण कषाय है जो जीव कषाय रहित हो जाते हैं वे एक मिनट भी अशान्त नहीं रह सकते कषाय जिनकी सत्ता से निकल जाती हैं वे नियम से उसी भव से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं इसलिए अपना हित सोचकर तू कषाय का त्याग कर।

ज्ञानमार्गणा- जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों का जाने उसे ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष । ज्ञान के पांच भेद भी होते हैं- मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमें से शुरू के चार ज्ञान क्षायोपशमिक होते हैं। अंत का केवलज्ञान क्षायिक होता है। आदि के तीन ज्ञान सम्यक् और मिथ्या दोनों तरह के होते हैं। ज्ञान के मिथ्या होने का अंतरंग कारण मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषाय का उदय है। मिथ्या अवधि को विभंग भी कहते हैं। चौथे गुणस्थान से आगे गुणस्थानों में सम्यग्ज्ञान होकर तेरहवें के शुरु में ही पूर्ण सम्यग्ज्ञान हो जाता है। अवधिज्ञान चौथे से बारहवें तक तथा मनःपर्ययज्ञान छट्ठे गुणस्थान से बारहवें

गुणस्थान तक होता हैं। पहिले तीन ज्ञान यदि मिथ्या हैं तो तीसरे गुणस्थान तक होंगे यदि सम्यक् हैं तो चौथे से बारहवें गुणस्थान तक होंगे। ज्ञान ही आत्मा का रूप है। ज्ञान के समान जीव को सुख देने वाला दूसरा पदार्थ नहीं। जितने मोक्ष गये हैं, जा, रहे आगे जायेंगे वे सब ज्ञान के प्रभाव से ही इस प्रकार की दशा को पाते हैं। विशेष जानने के अभिलाषी गोम्मटसार की ज्ञानमार्गणा का स्वाध्याय करें।

संयममार्गणा- अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील, अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को धारण करना, पांच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, मन, वचन काय रूप दंड का त्याग, तथा पांच इन्द्रियों का जय करना, छह काय के जीवों की रक्षा करना ही संयम है। बादर संज्वलन के उदय से अथवा सूक्ष्म लोभ के उदय से और मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय से नियम से संयम रूप भाव उत्पन्न होते हैं। संयम पांच प्रकार का होता है- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातचारित्र। जो संयम विरोधी नहीं ऐसे बादर संज्वलन कषाय के देश घाति स्पर्धकों के उदय से सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तीन चारित्र होते हैं, इनमें से परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्त में ही होता है किन्तु बाकी के दोनों प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरण पर्यंत होते हैं। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त संज्वलन लोभ के उदय से सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है। यथाख्यात चारित्र नियम से मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय से ही होता है। संयम का विशेष वर्णन ऊपर आ चुका।

दर्शन मार्गणा-

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।

अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए।।43।।

[श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित 'द्रव्यसंग्रह']

अर्थ- सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है उसको परमागम में दर्शन कहते हैं। इसका शब्दों द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता है। इसके चार भेद होते हैं- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन चक्षुरिन्द्रिय मतिज्ञान के पहिले जो सामान्य अवलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। चक्षुइंद्रिय के सिवाय बाकी इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न मतिज्ञान के पहिले होने वाले सामान्य अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं। अवधिज्ञान होने के पूर्व समय में अवधि के विषयभूत परमाणु से लेकर महा स्कन्ध पर्यन्त मूर्त द्रव्य को जो सामान्य रूप से देखता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। समस्त पदार्थों का जो सामान्य दर्शन होता है उसको केवलदर्शन कहते हैं।

लेश्यामार्गणा- जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य पाप से लिप्त करे, पुण्य पाप के आधीन करे उसे लेश्या कहते हैं, अथवा कषायोदय से अनुरक्त योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। कषाय और योग इन दोनों के जोड़ को लेश्या कहा है इसलिए लेश्या का कार्य बंधन चतुष्क है। क्योंकि बंधन चतुष्क में से प्रकृति और प्रदेश बंध योग के द्वारा होता है और स्थिति अनुभाग बंध कषाय से होता है। जहां पर कषायोदय नहीं होता वहां पर केवल योग को उपचार से लेश्या कहते हैं। इसीलिये वहां पर उपचरित लेश्या का कार्य भी केवल प्रकृति प्रदेश बंध होता है। स्थिति अनुभाग बंध नहीं होता है। लेश्या के दो भेद होते हैं एक द्रव्य दूसरी भाव लेश्या। वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर

का वर्ण होता है उसे द्रव्य लेश्या कहते है। इसके छह भेद होते हैं कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। तथा प्रत्येक के उत्तर भेद अनेक हैं। कृष्ण लेश्या भ्रमर के समान होती है, नील लेश्या नीलम के समान होती है, कापोत लेश्या कबूतर के समान होती है। पीत लेश्या सुवर्ण के समान होती है, पद्म लेश्या कमल के समान होती है शुक्ल लेश्या शंख के समान होती है। संपूर्ण नारकी कृष्णवर्ण ही होते हैं, कल्पवासी देवों की द्रव्य लेश्या और भावलेश्या एक सी होती है, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, मनुष्य और तिर्यंच इनकी छहों लेश्याएं होती हैं। विशेष जानने के अभिलाषी सिद्धांत ग्रन्थों का स्वाध्याय करे।

भव्य मार्गणा- जिन जीवों की अनन्त चतुष्टयरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हैं उनको भव्य कहते हैं। जिनमें इन दोनों में से कोई भी घटित न होता तो उसको अभव्य कहते हैं। कितने ही भव्य ऐसे हैं कि जो मुक्ति प्राप्ति के योग्य तो हैं परन्तु कभी मुक्त न होंगे, जैसे बन्ध्यापने के दोष से रहित स्त्री में पुत्र उत्पन्न करने की योग्यता तो है परन्तु उनके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। कोई भव्य ऐसे हैं जो नियम से मुक्त होंगे। जैसे बंन्ध्यापन से रहित स्त्री के निमित्त मिलने पर पुत्र उत्पन्न होता है। इन दोनों स्वभावों से रहित अभव्य होता है, जैसे बन्ध्या स्त्री को निमित्त मिले या न मिले उसमें पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। ऐसे बहुत से कनकोपल हैं जिनमें निमित्त मिलने पर शुद्ध स्वर्ण रूप होने की योग्यता है परंतु उनकी इस योग्यता को अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी अथवा जिस तरह अहमिंद्र देवों में नरकादि में गमन करने की शक्ति है परंतु उस शक्ति की अभिव्यक्ति कभी नहीं होती, इसी तरह जिन जीवों में

अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने की योग्यता है परन्तु उनको वह प्राप्त कभी नहीं होगी उनको भवसिद्ध कहते हैं ऐसे जीव सदा संसार में ही रहते हैं। जिनका पांच परावर्तन रूप संसार हमेशा के लिए छूट गया है और जो मुक्ति सुख के भोक्ता हैं उन जीवों को न तो भव्य समझना चाहिये और न अभव्य समझना चाहिये। क्योंकि उनको अब कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा है इसलिये वे भव्य नहीं हैं और अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हो चुके इसलिए अभव्य भी नहीं हैं।

सम्यक्त्वमार्गणा- छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, नव पदार्थ, इनका जिनेंद्र देव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उस ही प्रकार से इनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है। यह दो प्रकार से होता है। एक केवल आज्ञा से, दूसरा अधिगम से। "जीवादि द्रव्यों का जिनेंद्रदेव ने जैसा स्वरूप कहा है वास्तव में वही सत्य है" इस प्रकार का बिना युक्ति से निश्चय किये ही जो श्रद्धान होता है उसको आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। तथा इनके विषय में प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण, द्रव्यार्थिक आदि नय, नाम स्थापना आदि निक्षेप आदि के द्वारा निश्चय करके जो श्रद्धान होता है उसको अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं। अथवा सम्यक्त्व के तीन भेद और होते हैं- उपशमसम्यक्त्व,क्षयोपसमसम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व। मिथ्यात्व की तीन प्रकृति- मिथ्यात्व,सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व तथा अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसी चार प्रकृति, दोनों मिल कर सम्यक्त्व की विरोधनी सात प्रकृतियां हुई इन सातों के उपशम होने पर जो सम्यक्त्व होता है उसको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं यह सम्यक्त्व वैसा निर्मल होता है जैसे गंदले पानी में निर्मली डालने पर जल निर्मल होता है। उपशम सम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व निर्मलता की अपेक्षा समान दर्जे के हैं। क्योंकि विरोधी कर्म के उदय का अभाव दोनों जगह समान है।

किंतु विशेषता इतनी है कि क्षायिक सम्यक्त्व के विरोधी कर्म की सत्ता का सर्वथा अभाव हो गया है, जबकि उपशम सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता रहती है। उपशम सम्यक्त्व होने के पहिले पांच लब्धियां होती हैं उनका स्वरूप लिखने पर ग्रन्थ का रूप बढता है इसे अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिये मिथ्यात्व, मिश्र और अनंतानुबंधी चतुष्क इनका सर्वथा क्षय अथवा उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर पदार्थों का श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य और कर्मों के क्षय होने का कारण है। यद्यपि दर्शनमोहनीय के मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्प्रकृति ऐसे तीन ही भेद हैं तथापि अनंतानुबन्धी कषाय भी दर्शन गुण को विपरीत करता है इसलिये इनको भी दर्शनमोहनीय कहते हैं। इसी से कहा गया है कि "सप्तैते दृष्टिमोहनम् " अतएव सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने पर दर्शनगुण की जो अत्यन्त निर्मलता होती है उसको क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं। इसके विरोधी कर्म का जरा भी अंश बाकी नहीं रहता है इससे यह सम्यक्त्व और सम्यक्त्वों के समान शान्त नहीं है। दर्शन मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर उसी भव में या तीसरे चौथे भव में नियम से जीव सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है। चौथे भव का उल्लंघन किसी तरह नहीं होता है। सम्यक्दर्शन संसार समुद्र को पार होने के लिए जहाज के खेवटिया के समान हैं। मोक्षमहल की प्रथम सीढी है इसके बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या कहे जाते हैं! सम्यक्त्व को धारण करने से ही मनुष्य भव सफल होता है।

संज्ञी मार्गणा- नोइन्द्रियावरणी कर्म के क्षयोपशम को या उससे उत्पन्न ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसका संज्ञी कहते हैं।

जिनके ऐसी संज्ञा न हो किन्तु यथायोग्य इन्द्रिय ज्ञान हो उन्हें असंज्ञी कहते हैं। अथवा लब्धि और उपयोग रूप मन जिनके पाया जाय उन्हें संज्ञी कहते हैं और जिनके मन न हो उन्हें असंज्ञी कहते हैं। हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिसके द्वारा किया जा सके उसको शिक्षा कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ पैर चलाने को क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बतलाए हुए कर्तव्य को उपदेश कहते हैं, श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं। जो जीव इन शिक्षादिक को मन के द्वारा धारण करते हैं उन्हें संज्ञी कहते हैं, इनसे विपरीत असंज्ञी कहे जाते हैं 1) महान् पुण्यकर्म के उदयसे उच्चगोत्र कर्तव्यशील संज्ञियों में जन्म होता है। संज्ञियों में कोई- २ संज्ञी मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आहारमार्गणा- शरीरनामा नाम कर्म के उदय से देह वचन और द्रव्य मन रूप बनने के योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरों में से किसी भी एक शरीर के योग्य वर्गणाओं को तथा वचन और मन के योग्य वर्गणाओं को यथायोग्य जीवसमास तथा योग्यकाल में जीव ग्रहण करता है इसलिए उसको आहारक कहते हैं। विग्रहगति को प्राप्त होने वाले चारों गति के जीव, प्रतर और लोकपूर्ण करने वाले सयोगकेवली और अयोगकेवली, समस्त सिद्ध ये तो अनाहारक ही होते हैं। इनको छोड़कर शेष जीव आहारक होते हैं। इस प्रकार यहां तक संक्षेप रूप से चौदह मार्गणाओं का वर्णन किया अब पांच महाव्रतों का वर्णन किया जाता है-

हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप कहे जाते हैं इनको मोटे रूप से त्यागना अणुव्रत कहलाता है, सर्वथा त्याग करना

महाव्रत कहलाता है। जिनकी कषाय का दमन उस हद्द तक नहीं हो सका है जिससे महाव्रत धारण कर सकें वे अणुव्रतों को अंगीकार करते हैं। जो संसार शरीर और पंचेन्द्रियों के विषयों के स्वरूप को भली- भांति समझ कर उनसे उदासीन हो जाते हैं वही व्यक्ति महाव्रत धारण करते हैं।

महाव्रत पांच प्रकार के होते हैं- अहिंसा महाव्रत, सत्य महातव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रहत्याग महाव्रत।

अहिंसा महाव्रत जहां मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से छह काय के जीवों की पूर्ण रूप से रक्षा की जावे उसे अहिंसा महाव्रत कहते हैं। छः काय में ५ स्थावर- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक और एक त्रसकायिक हैं। त्रसकायिक के भी पांच भेद हैं परन्तु उनकी यहां विवक्षा नहीं है त्रस की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है कि जो जीव भय के निमित्त से इधर उधर चलें फिरें तथा खाना पीना ढूंढते फिरें हिताहित का विवेक कर भी सकें और न भी कर सके ऐसे द्वीन्द्रिय को आदि लेकर त्रस कहलाते हैं। इन त्रस जीवों में एक विशेषता और भी पाई जाती है कि जिन जीवों में हड्डी मांस मज्जा मैदा वीर्य कफ आदि पाये जाते हैं उन्हें त्रस कहते हैं। त्रस जीव पांच प्रकार के होते हैं- १) द्वीन्द्रिय के जीव जिनके स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियां हो जैसे शंख गिडोल आदि। २) त्रीन्द्रिय वे जीव हैं जिनके द्वीन्द्रिय से घ्राणेन्द्रिय ज्यादा हो जैसे कीड़ा, मकोडा, बिच्छू, खटमल आदि। ३) चतुरिन्द्रिय वे जीव हैं जिनके चक्षु भी हों जैसे मक्खी, भौंरा, बर्र, ततइया आदि। ४) असैनी पंचेन्द्रिय जिनके इन्द्रियां तो पांचों ही हों पर मन न हो। जैसे कोई कोई पनिया सांप, हरेला तोता आदि। ५)

सैनी पंचेन्द्रिय- जिनके पांचों इन्द्रियों के साथ मन भी हो। जैसे- मनुष्य, देव, नारकी, सिंह, गाय, हाथी आदि। सैनी के फिर दो भेद होते हैं। एक गर्भज दूसरे सम्मूर्छन। गर्भज जीव तीन तरह के होते हैं- एक जरायुज दूसरे अण्डज तीसरे पोत। जिनके शरीर पर जेरसी लिपटी रहती है ऐसे मनुष्यादि जरायुज कहलाते हैं। जो अण्डों से पैदा होते हैं उन्हें अण्डज कहते हैं। जन्मते ही उछलने- कूदने वालों को पोत कहते हैं जैसे सिंह व्याघ्रादि। सम्मूर्छन उन्हें कहते हैं जिनका शरीर माता पिता के, रज वीर्य से उत्पन्न न होकर इधर उधर के परमाणुओं को शरीर रूप परिणमा लेते हैं। जैसे बिच्छू आदि। इनके और भी कई भेद होते हैं। अब इन जीवों का और भी खुलासा करते हैं- जैसे एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के होते हैं इनमें पृथ्वी- जीव और वनस्पति जीव तो स्थिर ही रहते हैं अपने स्थान से चलायमान नहीं होते। जल अग्नि और वायु ये तीनों स्थावर जीव अपनी योग्यता के अनुसार इधर उधर संचरण भी करते हैं जैसे नीची पृथ्वी में जल चलायमान रहता है। हवा निमित्त अग्नि इधर उधर चली जाकर कई पदार्थों को भस्मसात् कर देती है। वायु तो सदा विचरण करती रहती है। इन तीनों प्रकार के स्थावरों को इस प्रकार के विचरण करने से उन्हें त्रस नहीं कह सकते, क्योंकि इन जीवों के स्थावरनामा नामकर्म का उदय रहता है। इसलिए स्थिर रहने की अपेक्षा स्थावर नहीं कहलाते किन्तु जिनके स्थावर नामा नामकर्म का उदय होता है वे चाहे स्थिर हों अथवा चलायमान रहते हों उन्हें स्थावर ही कहते हैं।

रहे त्रस जीव सो उनके इधर उधर फिरने से उनका नाम त्रस नहीं रखा है। क्योंकि उन जीवों के त्रस नामा नामकर्म का ही उदय है उसी से त्रस कहलाते हैं। यदि चलने फिरने से त्रस कहलावें तो जो सोए

हुए हैं या गर्भावस्था में हैं या मूर्छित हैं उन्हें त्रस नहीं कह सकेंगे।) इसीलिए यह बात सिद्ध हुई कि चलने फिरने की अपेक्षा त्रस नहीं कहलाते किंतु जिनके त्रस नाम कर्म का उदय होता है वे किसी भी दशा में हों उन्हें त्रस ही कहा जायगा ऐसा भगवान कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थ में कहा है। इस प्रकार यहां पर दश प्रकार के जीवों का कथन किया जो त्रस स्थावर के ही भेद हैं। इनकी जो नवकोटी से रक्षा करना है सो ही अहिंसा है।

संसार में छह द्रव्यों की अवस्थिति है, छह द्रव्यों की नित्यता से संसार नित्य माना जाता है। छहों द्रव्यों की पर्यायों की अनित्यता की अपेक्षा से संसार अनित्य कहा जाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं क्योंकि इन सब द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व पाया जाता है तथा गुण पर्यायें पायी जाती हैं। हरएक द्रव्य में अनंतो गुण और एक एक गुण की अनंत पर्यायें होती हैं। गुण के विकार को पर्याय कहते हैं। इन द्रव्यों में सबसे बड़े दो द्रव्य हैं। एक पृथ्वी दूसरा आकाश। पृथ्वी तो परमाणु परमाणु मिलकर बड़ी बनी है, आकाश स्वतः स्वभाव बड़ा है। आकाश से बड़ा कोई द्रव्य नहीं है। आकाश ही सब द्रव्यों को अवकाश दान दिये हुए है। पुद्गल द्रव्य कई खण्डों में विभक्त है, परंतु आकाश द्रव्य वास्तव में तो एक अखंड द्रव्य है, परंतु उपचार से घटाकाश मठाकाश, पटाकाश आदि अनेक भेद हैं। सो आकाश बराबर कोई द्रव्य बड़ा नहीं है। इसी प्रकार सब पुण्यों में व सब धर्मों में या सब व्रतों में अहिंसा समान पुण्य धर्म और व्रत नहीं है। जिसने इस व्रत, धर्म या पुण्य का पालन किया उसने थोड़े समय में संसार से ही पराङ्गमुखता धारण की और ऐसा मनुष्य तीनों लोकों के जीवों से पूज्य हो जाता है। ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

यहां हिंसा और अहिंसा का संक्षेप में लक्षण कहा है- आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है और उनकी उत्पत्ति नहीं होना अहिंसा है। फिर भी हिंसा दो तरह की होती है एक द्रव्य हिंसा दूसरी भाव हिंसा। प्रमाद के योग दूसरे दूसरे प्राणियों के द्रव्य प्राणों का घात या वियोग करना सो तो द्रव्य हिंसा कहलाती है। और अपने प्राणों का वियोग करना अथवा कषाय भाव उत्पन्न करना सो भाव हिंसा कहलाती है।

मनुष्यों द्वारा व्यवहार में जितने कार्य किये जाते हैं जैसे- मारना, पछाडना, टोकना, रांधना, पीसना, तलना, काटना, गर्मी सर्दी पहुंचाना और भी अन्य उपायों से जीवों को मारना सो सब द्रव्य हिंसा है। ऐसे व्यवहार करना जिससे अपने या दूसरे में रागादि भावों की उत्पत्ति हो जावे उसको भाव हिंसा समझना चाहिये। इन दोनों तरह की हिंसा का मन वचन काय कृतकारित अनुमोदना से त्याग करना चाहिये। यही अहिंसा महाव्रत है। नवकोटि किसे कहते हैं इसको ध्यान से जानना चाहिये- मन वचन काय इन तीनों को कृत कारित अनुमोदना से गुणा करने पर नव भेद हो जाते हैं। जैसे- मन कर कृत कारित अनुमोदना। वचन कर कृत कारित अनुमोदना काय कर कृत कारित अनुमोदना। इस प्रकार मन के तीन वचन के तीन काय के तीन मिलकर ९ भेद होते हैं इन्हीं को नवकोटि कहते हैं। इन नवकोटि से अहिंसा के पालने वाले जीव जगतपूज्य, जगदुद्धारक, जगच्छिरोमणि कहे जाते हैं। अहिंसक का सभी विश्वास करते हैं। विरोधी अपने जन्म जात वैर को भूल जाते हैं। तीर्थंकरों के समोसरण में जातिविरोधी जीव एक दूसरे से सटकर बैठते हैं, गाय के दूध को सिंहनी का बच्चा पीता है और सिंहनी के दूध को गाय का

बछड़ा पीता है। जो नेवला सर्प को देखते ही सर्प को मार डालने के लिये उछलकूद मचाने लगता है वह भी अहिंसक तीर्थंकर के समोसरण में सर्प की गोद में कलोलें करता है। जिस चूहे को देख कर बिल्ली खा जाने के लिये पूंछ हला २ कर पंजे मारना शुरू करती है वही चूहा बिल्ली के मुंह को चूमने लगता है, यह सब अहिंसा का ही प्रभाव है। अहिंसा की महिमा अनेक आचार्यों ने गाई है। एक आचार्य का कहना है-

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपः श्रुतयमोत्करः ॥518॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (अष्टमः सर्गः श्लोक-४६/४७)]

अर्थ- यह अकेली अहिंसा जीवों को जो सुख, कल्याण या अभ्युदय देती है वह तप स्वाध्याय यम नियमादि नहीं दे सकते हैं, क्योंकि धर्म के समस्त अंगों में अहिंसा ही एक मात्र प्रधान अंग है। फिर इसी ८ वें सर्ग में कहा है-

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित् ।
कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम् ।।498।।

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (अष्टमः सर्गः श्लोक-२६/२७)]

अर्थ- देवता की पूजा के लिये रचे हुए नैवेद्य तथा मंत्र औषध निमित्त अथवा अन्य भी कार्य के लिए की गई हिंसा नरक में ले जाती है। और भी कहा है कि-

सकलजलधिवेलावारिसीमां धरित्रीं
नगरनगसमग्रां स्वर्णरत्नादिपूर्णाम् ।

यदि मरणनिमित्ते कोऽपि दद्यात्कथंचित्
तदपि न मनुजानां जीविते त्यागबुद्धिः ।।506।।

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (अष्टमः सर्गः श्लोक-३४/३५)]

अर्थ- यदि कोई किसी मनुष्य को मर जाने के बदले में नगर पर्वत तथा रत्न सुवर्ण धनधान्यादिकों से भरी हुई समुद्र पर्यंत सकल पृथ्वी को दे देवे और उससे उसके बदले में मरने के लिये कहे तो वह अपने वर्तमान जीवन को त्यागने के लिये तैयार नहीं होगा चाहे वह कितना ही रोगी कुष्ठी दरिद्री या बूढा ही क्यों न हो। कारण उसका ये है कि अपने प्राण सबको प्यारे होते हैं। मरने की दो घड़ी पहिले भी जीव मरने के लिये तैयार नहीं होता अच्छे अच्छे विवेकी पुरुष जो ऐसा अच्छी तरह जानते हैं कि जिसका जन्म होता है उसका मरण जरूर होता है लेकिन वे भी किसी के द्वारा कहे गये अपने मरण के वचनों को सुनने के लिये तैयार नहीं होते। कितने ही व्यक्ति ऐसे भी है जो किसी के द्वारा तुम मरजाओ ऐसे वचन निकालने पर लड़ने को तैयार हो जाते हैं। कहां तक कहा जाय अपने प्राणों का व्यामोह सभी को होता है। मरना किसी को पसंद नहीं, जब अपने को पसंद नहीं , तो जानना चाहिये दूसरे को कैसे पसंद हो सकता है। छोटा सा घाव अपने शरीर को व्यथित करता है फिर सर्वथा किया हुआ दूसरे का अंगभंग उसको कैसे संक्लिष्ट नहीं करता होगा? हिंसा घोर नरक वेदना की कारण है, अपरिमित भव धारण कर-कर के भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसा जानकर हिंसा सर्वथा त्याग करना चाहिये अहिंसा ही भुक्ति मुक्ति की देनेवाली है। धन्य है वे जो ऐसा मनुष्य भव पाकर पूर्ण अहिंसा का पालन करते हैं।

सत्य महाव्रत- मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना प्राणियों को पीड़ा के कारण ऐसे अप्रशस्त वचनों के कहने का सर्वथा त्याग करना सत्य महाव्रत है। मुनि ऐसे वचन न बोलें जिस वचन से दूसरों को आत्मा का अभाव रूप श्रद्धान हो जावे, जिस वचन से हिंसा के कारण आरम्भ में प्रवृत्ति हो जाय, काम की उत्कटता हो जाय, राग भाव बढ़ जाय, कलह हो जाय, मूर्च्छा परिग्रह बढ़ जाय, धर्म से परांगमुख हो जाय, इन्द्रियों के विषयों में लीनता हो जाय, पर का मर्म छेदा जाय, दूसरे का अपवाद या दूषण संसार में प्रगट हो जाय, अपमान या तिरस्कार हो जाय, जिस वचन से दूसरा देव गुरु धर्म का विपरीत श्रद्धान करने लग जाय, लोकनिंदा हो जाय। मुनि का वचन हित मित और सन्देह रहित होना चाहिए। हित दो तरह का होता है एक स्वहित दूसरा परहित। जिस वचन से अपने संसार का अभाव हो वह स्वहित वचन है। जिससे दूसरे जीवों का संसार परिभ्रमण मिट जाय सो परहित है। ऐसा वचन बोले जिससे अपना और दूसरे का हित हो, अनर्थक बहुत प्रलाप रहित, प्रमाणीक जितने की आवश्यकता हो उतना वचन बोलना मित वचन है। जिसमें सन्देहादि रहित प्रगट अर्थ हो वा प्रगट अक्षर हों सो असंदिग्ध वचन है। हित मित असंदिग्ध वचन तो कहे परन्तु मिथ्यात्व के वचन, ईर्षा के वचन, अप्रिय वचन, कषाय बढ़ाने वाले वचन, भेद करने वाले वचन, अल्पसावद्य वचन, शंका को उत्पन्न करने वाले शंकित वचन, भ्रम उत्पन्न करने वाला वचन, कषाय हास्य के वचन, देशकालादि विरुद्ध वचन नहीं बोले। एवं ऐसे वचन भी नहीं बोले जो सभा के सत्पुरुषों के सम्मुख नहीं- बोलने योग्य हों, कठोर वचन, अधर्म विधि का पोषक, अति प्रशंसादिक वचन इत्यादिक सदोष वचनों को छोड़कर जिन सूत्र की आज्ञानुसार अनुकूल वचन बोले। यहां कोई ऐसा पूछे

कि मुनि को सत्य धर्म का पालन करते हुए भाषा समिति भी पालना चाहिए तो इन दोनों में फरक क्या है? इस शंका का समाधान यह है कि मुनिराज श्रावक लोगों में या अपने संघ में सत्य महाव्रत और भाषा समिति इन दोनों को एक साथ पालते हैं या दोनों का एक साथ प्रयोग करते हैं, परन्तु किसी समय पर भाषा समिति के प्रयोग करने में बाधा आ जाती है क्योंकि आचार्यों को कोई समय ऐसा भी आ जाता है कि मानों किसी शिष्य से ऐसा अज्ञानताजन्य दोष बन गया हो जिसका प्रायश्चित्त संघ से बाहर कर देने से होता हो, गुरु ने उपदेश में कितने ही वक्त पदार्थ का या चर्या का स्वरूप समझाया फिर भी बार-बार दोष बन जाता है तो उस समय शब्दों का कठोर प्रयोग भी करना पड़ता है जैसे किसी मुनि से कोई अपराध बन गया हो जिससे सारे संघ का अपवाद होता हो या सारे संघ पर विपत्ति का पहाड़ टूट पडे, उस समय आचार्य ऐसा भी कह सकते हैं कि हे दुरात्मन्! तुम हमारे संघ से निकल जाओ, तुमको तो पापों से प्रेम है, धर्मात्मा मुनिसंघ से तुम्हें प्रयोजन नहीं है। क्योंकि जो संसाररूपी पाप के मैल को धोना चाहे वही धर्मात्माओं से सम्बन्ध रखना पसन्द करता है जब तुम्हें इन बातों की जरूरत नहीं है तो फिर तुम्हें धर्म सेवन करने वाले मुनि संघ में रहने की क्या जरूरत है? जिसको पापपुंज धोना हो, तथा धर्म का संचय करना हो संसार का अभाव करना चाहता हो वही व्यक्ति ऐसे मुनि संघ में रहे। जब तुम्हें ऐसे मुनिसंघ में रहने की जरूरत नहीं है तो तुम संघ से अलग चले जाओ, तुम संघ से पृथक् किये जाते हो, अब से तुम्हें इस संघ में बिलकुल नहीं रहना चाहिए। जब इस प्रकार के शब्द आचार्यों द्वारा काम में लाए जातें हैं तो बतलाओ उनके द्वारा भाषा समिति का पालन कैसे हो सकता है? इसलिये जो संघ से बाहर के हैं उनके साथ सत्य

महाव्रत और भाषा समिति का व्यवहार होता है, संघ में रहने वालों के साथ किसी-किसी समय भाषा समिति का पालन नहीं भी हो सकता है। परंतु ऐसा व्यवहार उसी शिष्य के साथ किया जाता है जो अत्यंत उद्दंड होता है। कर्मों का संवर और उनकी निर्जरा तभी हो सकती है जब सत्य धर्म के साथ भाषा समिति का ठीक-ठीक प्रयोग किया जाय। संसार में जिन्होंने सत्य का पालन किया उन आत्माओं का पापमैल दूर होकर उनकी निर्मलता हो जाती है उनका कर्म मैल धुल गया है और वे सदा को सुखी हो गये। लोभादि कषायों की पुष्टि करने के लिए ही असत्य का अवलंबन करना पड़ता है। अतएव वे महात्मा धन्य और स्तुत्य हैं जिन्होंने तमाम पाप को धोने के लिये सत्य धर्म का अवलंबन कर सत्य महाव्रत का पालन किया।

अचौर्य महाव्रत- प्रमाद से किसी की बिना दी गई कोई वस्तु ग्रहण करना सो चोरी है। मन वचन काय कृत कारित अनुमोदन से ऐसी चोरी का सर्वथा त्याग करना सो अचौर्य महाव्रत है।

पर की वस्तु ग्रहण होहु या मत होहु जहां प्रमत्तयोग होगा वहां चोरी का दोष जरूर है। यद्यपि कर्म नोकर्म धर्मग्रहण, शब्दग्रहण, इत्यादिक भी बिना दिये ग्रहण किये जाते हैं तो भी ये अदत्तग्रहण नहीं हैं क्योंकि लेने देने का व्यवहार जहां संभव होता है वहीं अदत्तग्रहण का व्यवहार जानना चाहिए। व्यवहार में जितने उपयोगी धन धान्यादिक हैं उन्हीं का लेन देन होता है या पुस्तक पीछी कमंडलु हैं उनका भी आदान प्रदान हो सकता है, ऐसी वस्तुओं का बिना आज्ञा लेना देना चोरी में संभव होता है। मुनिराज ऐसी चोरी के सर्वथा त्यागी होते है। इस व्रत के पुष्ट करने के लिये पांच तरह की भावनाएं भाते हैं- शून्य गृह जो पर्वत गुफा वन वृक्ष कोटरादि उनमें मैं

निवास करूं, दूसरे के द्वारा छोड़े हुए उजड स्थान में रहूं, आप जहां जाऊं वहां कोई दूसरा व्यक्ति आवे तो उसको आने से मना नहीं करूं, जहां किसी ने पहिले ही निवास कर रक्खा हो उसको वहां से निकाल कर बाहरकर खुद निवास नहीं करूं, आचारांग शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रक्खू साधर्मियों से विसंवाद नहीं करूं।

आचार्यों ने परद्रव्य के दो भेद बतलाये हैं एक चेतन दूसरा अचेतन। चेतन में तो दासी दास पुत्र पौत्र स्त्री गौ महिषी घोड़ा हाथी आदि समझना चाहिये। और अचेतन में सोना चाँदी मकान जमीन राज्य किला खेत आदि समझना चाहिये। जो प्राणी संतोष से रहना चाहते हैं, शांतिजन्य सुख का अनुभव करना चाहते हैं तथा अपने स्वभाव में ही स्थिर रहना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि वे इन चेतन अचेतन पदार्थों को दुखदाई समझकर इनसे ममत्व छोड़कर इनका सर्वथा त्याग कर दें। क्योंकि ज्ञानार्णव में ऐसा कहा है कि-

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्प्वमनेकधा ।
तत्त्याज्यं संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यमैः ।।589।।

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (दशमः सर्गः - श्लोक-१७)]

इसका अर्थ ऊपर आ गया इसलिए पुनः नहीं लिखा जाता है धन को शास्त्रों में बाह्य प्राणवत बतलाया गया है सो ही ज्ञानार्णव में लिखा है-

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम् ।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः ।।575।।

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (दशमः सर्गः - श्लोक-३)]

अर्थ- धन को शास्त्रों में बाह्य प्राण माना है। इस लिये धन का हरण करना ही प्राण का हरण करना है। एक भाषाकार कवि ने भी कहा है-

दोहा

भूल्या विसरथा भूपढ्या परधन बहू धराय।
बिना दिया लीजे नहीं जन्म जन्म दुखदाय॥

और भी कहा है-

चौपाई

मालिक की आज्ञा विन कोय। चीज गहे सो चोरी होय॥
ताते आज्ञा विन मत गहो। चोरी से नित डरते रहो॥

इसलिये हे प्राणियों! पर पदार्थ चेतन हो या अचेतन हो उसको ग्रहण करने की स्वप्न में भी इच्छा मत करो, जो संसार में सुख से जीना चाहते हो तो इस बात का विचार करो कि जो वस्तु अपनी होती है उसका यदि कोई दूसरा छीन ले जाय या बिना पूछे उठा ले जाये तो अपने परिणामों में कितना संक्लेष हो जाता है। दिनरात आर्त रौद्र ध्यान ही लगा रहता है। उसी तरह दूसरे के पदार्थों को यदि अपन छीन लेते हैं तो उसको वैसा दुख क्यों नहीं होता होगा? उसकी आत्मा में भी कुगति बन्ध का कारण आर्त रौद्र ध्यान लगा रहता होगा? इसलिए प्राण रहते पर पदार्थ का ग्रहण कभी मत करो। ऐसा ही संसारी जीवों को सद्गुरुओं का सदुपदेश है। यह अचौर्यव्रत भी नवकोटी से शुद्ध ही पाला जाता है। गृहस्थों के लिए सिद्धान्त में दो पदार्थों की छूट मानी जाती है (१) किसी के कुए से जल भर लेना (२) खेत वगैरह से मिट्टी ले लेना। क्योंकि इनके मालिकों की तरफ से इस विषय में कोई रोक नहीं होती। पानी मिट्टी के लेने में मालिकों को कोई खेद नहीं होता है। इसलिए आर्त रौद्र ध्यान की परिणति भी नहीं होती है। बाकी के कोई पदार्थ बिना दिये नहीं लेना चाहिए। धर्म साधन करते रहो जिस से बिना मांगे तुम्हें अपने आप सब पदार्थ सुलभ होते रहें

एक विद्वान ने कहा है-

जांचे सुर-तरु देय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन।
बिन जांचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन ॥13॥

[कविवर भूधरदास जी विरचित 'बारह भावना (राजा, राणा,छत्रपति...)']

हे भद्रपरिणामयो! जरा विचार करो संसार में पाप समान कोई दुखदाई चीज नहीं है और धर्म के समान कोई सुखदाई चीज नहीं है इसलिये दुख देने वाले पदार्थों का संबंध स्वप्न में भी मत चाहो। सदा धर्म सहित रहने का अभ्यास करो। ये अचौर्य महाव्रत अपनी आत्मिक निधि को प्राप्त करने की तरफ ही झुकता है। जो चीज अपनी है उसी को ग्रहण करने की इच्छा करो वह चीज लोभादिक कषायों को दूर करने से ही मिल सकती है। धन्य हैं वे जीव जिन्होंने चोरी की वासना को दूरकर सर्वथा अचौर्य महाव्रत को अपनाते हैं। यह अचौर्य महाव्रत सच्चे सुख की कुञ्जी है।

ब्रह्मचर्यमहाव्रत- कामसेवन को मैथुन कहते हैं, मैथुन को ही अब्रह्म कहते हैं। चारित्र मोहनीय के तीव्र उदय से रागभाव की उत्कटता से जो स्त्री पुरुषों के परस्पर शरीर का स्पर्श करने में सुख की इच्छा करने वाले पुरुष का जो रागी परिणाम सो मैथुन है। इसी को कुशील भी कहते हैं। जिस भव्यात्मा को तात्विक विवेक हो जाता है वह स्त्री के शरीर को महाघृणा का घर तथा मलजनक और मल की योनी समझकर उसका त्याग कर देते हैं और अपनी आत्मा में रमण करने लगता है उसके ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है। स्त्री मात्र का त्यागी तो गृहस्थ भी होता है, जिसके सातमी प्रतिमा होती है, पर उसका व्रत अणुव्रत ही कहा जाता है। क्योंकि प्रत्याख्यानावरणी कषाय का उदय रहता है। मुनिराज का व्रत ही महाव्रत कहा जाता है। क्योंकि

उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो जाता है। महाव्रती ब्रह्मचर्य व्रत को पुष्ट करने के लिये नीचे लिखी भावनाएं भाता है। स्त्रियों में राग बढाने वाली कथाओं के सुनने का मैं त्याग करूं, उनके मनोहर अंग को मैं नहीं देखूं, गृहस्थावस्था में स्त्रियों के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण भी न करूं, ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाले पौष्टिक रसों का मैं त्याग करूं, अपने शरीर को सजाने वाले संस्कार का मैं त्याग करूं। ब्रह्मचर्य के पुष्ट करने के नव बाड़ बतलाए गये हैं और वे निम्न प्रकार हैं-

स्त्रियों के समागम में रहना, स्त्रियों को राग भरी दृष्टि से देखना, स्त्रियों से परोक्ष में सराग संभाषण करना, पूर्वकाल में भोगे हुए भोग विलासों का स्मरण करना, आनन्ददायक गरिष्ट भोजन करना, स्नान मंजन आदि के द्वारा शरीर को आवश्यकता से अधिक सजाना, स्त्रियों के पलंग आसन आदि पर सोना बैठना, काम कथा व कामोत्पादक कथा व गीतों का सुनना, भूख से अधिक अथवा पेट भर कर भोजन करना इन सबके त्याग को जैन मत में ब्रह्मचर्य की नव बाड़ कहा है। ब्रह्मचर्य का लक्षण ग्रन्थान्तर में इस प्रकार भी कहा है-

विदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥593॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकादशः सर्गः - श्लोक-१)]

अर्थ- जिस व्रत का अवलम्बन लेकर योगीगण परमब्रह्म परमात्मा को पहिचानते हैं या उसका अनुभव करते हैं ऐसे उत्कृष्ट व्रत को महा धीर वीर पुरुष ही धारण करते हैं सामान्य मनुष्य धारण नहीं कर सकते हैं। ऐसा यह ब्रह्मचर्य महाव्रत है। और भी कहा है-

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम्।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम्॥596॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकादशः सर्गः - श्लोक-४)]

अर्थ- आशीर्वाद पूर्वक आचार्य महाराज कहते हैं कि यह ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत जयवन्त हो, क्योंकि यह व्रत चारित्र का तो एक मात्र जीवन है, इसके बिना अन्य जितने गुण हैं वे सब जीवों को क्लेश ही देने वाले हैं।

ब्रह्मचर्य के भेद प्रभेद निम्न प्रकार हैं- मूल ब्रह्मचर्यव्रत १। इसके दो भेद होते हैं (१) द्रव्य ब्रह्मचर्य दूसरा भाव ब्रह्मचर्य। इन द्रव्य भाव ब्रह्मचर्य के फिर तीन- तीन भेद होते हैं, ये भेद मोटे रूप से माने गये हैं। उनका पृथक्करण इस प्रकार है द्रव्य ब्रह्मचर्य के तीन भेद (१)उत्तम (२)मध्यम (३)जघन्य।

(१) उत्तम द्रव्य ब्रह्मचर्य- सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी के होता है जो स्वदारा में भी यावज्जीवन विषय सेवन करने का त्यागी होता है, लेकिन अपने शरीर की सेवा टहल करा सकता है।

(२) मध्यम द्रव्य ब्रह्मचर्य- उसके होता है जो सम्यक् दृष्टि होता है और जो परस्त्री मात्र का तो सर्वथा त्यागी हो पर अपनी विवाहिता स्त्री में पर्वों के दिनों को छोड़ कर और पहिली पिछली रात्रि के समय को छोड़ कर वा दिन को भी छोड़ कर स्वदारसन्तोषव्रत धारण करे।

(३) जघन्य द्रव्य ब्रह्मचर्य उसके होता है जो केवल स्वदार सन्तोषव्रत का धारी है और कोई नियम नहीं है।

अब भाव ब्रह्मचर्य व्रत का कथन करते हैं- भाव ब्रह्मचर्य के भी तीन भेद होते हैं (१) उत्तम (२) मध्यम (३) जघन्य।

(१) उत्तम ब्रह्मचर्य- नवमें गुणस्थान के ६ वें भाग से लेकर १२वें गुणस्थानवर्ती मुनि के होता है।

(२) मध्यम भावब्रह्मचर्य- सामायिक रूप भाव सप्तम गुणस्थान से लेकर नवम गुणस्थान के ६वें भाग के पहिले-पहिले होता है। कारण ये है कि वहां जाकर वेद नामक कषाय का सर्वथा अभाव नहीं होता आगे कषाय का सर्वथा अभाव है।

(३) जघन्य भाव ब्रह्मचर्य आरंभत्याग प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा वाले श्रावक तथा छट्ठे गुणस्थान वाले मुनिराज जो हलन चलन करते हैं जिनको जीव हिंसा की बाधा हो जाती है जिसका कि मुनिराज प्रायश्चित्य लेते हैं ऐसे ब्रह्मचर्य को जघन्य भाव ब्रह्मचर्य कहते हैं।

प्रश्न- पूर्ण ब्रह्मचर्य १२ वे गुणस्थान में कैसे कहा? समझ में नहीं आया इसका खुलासा कीजिये?

उत्तर- देशव्रत से लेकर छट्टे गुणस्थान तक तो स्त्रियों के साथ भोजन का व उपदेश आदेश का संबंध रहता है, जिससे मुनिराजों के दोष भी हो जाता है उसका प्रायश्चित भी लेते हैं। ऊपर सप्तम गुणस्थान से लेकर नवमें गुणस्थान तक वेद नामाकर्म कषाय जन्य भावों का सद्भाव रहता है। सो परिणामों में सूक्ष्म रीति से मलिनता रहती ही है, जिससे यहां पर गुण से गुणान्तर भाव से भावान्तर, द्रव्य से द्रव्यान्तर, पर्याय से पर्यायान्तर, परिणमन होता है इसी को अर्थव्यञ्जन योग संक्रान्ति कहते हैं। आगे बारहवे गुणस्थान तक ऐसे भाव नहीं रहते, परन्तु केवलज्ञान के बिना जो भाव रहते हैं वे परोक्षरूप भाव ब्रह्मचर्य हैं प्रत्यक्ष रूप भावब्रह्मचर्य नहीं हैं यहां तो

यथाख्यात भावब्रह्मचर्य है। जब तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को जाज्वल्यमान केवलज्ञान हो जाता है तब ही क्षायिक भाव ब्रह्मचर्य की भी जघन्यावस्था कही जाती है, क्योंकि यहां भी योगों का सद्भाव है। आगे चौदहवें गुणस्थान में योगों का अभाव होने से जो आत्मा के शील रूप १८००० भेद हैं उनमें अभी पूर्णता होने में कमी है जब चौदहवें गुणस्थान का अवशेष समय पांच लध्वक्षर प्रमाण पूर्ण हो जाता है उसी समय १८००० शील के भेद और चौरासी लाख ८४००००० उत्तरगुणों के भेद पूर्ण हो जाते है। उसी समय पूर्ण गुणसंपन्न परमात्मा सिद्धालय में विराजमान हो जाते हैं। उन्हीं के पूर्ण भावब्रह्मचर्य होता है। वह पर्याय अचल, अनौपम्य और अव्यय कही जाती है। फिर सिद्धालय से वह आत्मा कभी चलायमान नहीं होता है। इसी का नाम पूर्ण क्षायिक ब्रह्मचर्य है।

ख्याल करने की बात है कि संसार में सबसे ज्यादा विषैला जानवर विषधर होता है, जो एक वक्त काट खावे तो उसका उपचार न होकर मरण को ही प्राप्त हो जावे, सो उसके जहर के वेग तो सात ही होते हैं, परन्तु ब्रह्मचर्यव्रत भंग करने वाले की दश दशाएं होती हैं। इसलिये विचार करना चाहिये कि सर्प विष दूर करने के लिये औषधि और मंत्र मौजूद हैं जिनसे सर्प का विष दूर हो जाता है, परन्तु काम सेवन के विष दूर करने के लिये न तो कोई औषधि है और न कोई मंत्र ही है। इस विष का उतरना तो होता ही नहीं, किंतु प्राण घात ही हो जाता है। इसी बात को बतलाने के लिये कहा गया है कि कामदेव की दश दशाओं में

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ।।621।।

पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ।।622।।
नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति ।।623।।

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव'
(एकादशः सर्गः - श्लोक-२९,३०,३१)]

अर्थ- काम के उद्दीप्त होने पर प्रथम तो चिन्ता होती है कि उस स्त्री का संपर्क कैसे हो (२) दूसरे में उसको देखने की इच्छा होती है (३) तीसरे वेग में दीर्घ निःश्वास लेता है और कहता है कि हाय हाय उसका देखना भी नहीं हुआ ४) चौथे वेग में ज्वर का प्रकोप हो जाता है। ५) पांचवें वेग में शरीर क्षीण होने लगता है। ६) छटवें वेग में किया हुआ भोजन नहीं रुचता है। ७) सातवें वेग में मूर्च्छा से अचेत होने लगता है। ८) आठवें वेग में उन्मत्त अर्थात् पागल सा हो जाता है ९) नवमें वेग में प्राणों का संदेह होने लगता है कि अब मैं जीवित रहूंगा या नहीं? और १०) दशवे वेग में मरण तक हो जाता है। इसलिये इनका संबंध और वृद्धि करने से जो जो कार्य हो सकते हैं उनका पहिले विचार कर उनको घटाना ही मनुष्य की मनुष्यता है। वही कहा जाता है-

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृषसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते॥599॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्त्तितम्।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम्॥600॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम्॥601॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकादशः सर्गः - श्लोक-७,८,९)]

अर्थ- (१) प्रथम शरीर का संस्कार करना (श्रृंगारादि करना) (२) दूसरे पुष्ट रस का सेवन करना, ३ तीसरे गीत नृत्य वादित्रों का सुनना वा देखना, ४ चौथे स्त्रियों का संसर्ग करना अर्थात् स्त्रियों की संगति में रहना, ५ पांचवें स्त्रियों में किसी प्रकार का संकल्प या विचार करना ६ छट्टे स्त्रियों के गुप्तांग देखने का विचार करना ७ सातवें जो अंग देखा हो उसके संस्कार को हृदय में रखना। ८ आठवें पूर्व काल में भोगे हुए भोगों का चिंतवन करना ९ नवमें आगामी काल में भोग भोगने की चिन्ता करना। १०) दशवें अपने वीर्य की रक्षा नहीं करके किसी भी तरह उसको पात करना। इस प्रकार मैथुन के उपजाने के ये बलवान कारण हैं। अतः विचारवान पुरुष जो हमेशा को सुख चाहते हैं इनका कभी भी संकल्प न करें, सत्पुरुषों का यही कर्तव्य होना चाहिये जिससे आत्मा कर्मों के फंदों से बच जावे। संसार में जितने भी कार्य सिद्ध होते हैं वे परिश्रम पूर्वक पुरुषार्थ से ही हो सकते हैं। जैसे हम देखते हैं कि हमारे गृहस्थाश्रम के जितने भी कार्य होते हैं वे सब पुष्ट शरीर से ही निष्पन्न होते हैं। यदि शरीर में ताकत न हो तो और की तो बात क्या कटोरी भर पानी भी नहीं पी सकते मोक्ष प्राप्त करना भी एक कार्य है वह तप पूर्वक की हुई की निर्जरा से प्राप्त होता है। तप इंद्रियों के निग्रह करने से होता है। इंद्रियों का निग्रह करने के लिये अनशनादि करने पड़ते हैं। अनशनादि करने को शक्ति की आवश्यकता है। स्वाध्याय में उपयोग लगाने के लिये शक्ति की भारी आवश्यकता है। तत्त्व का चिंतवन करने के लिये, ध्यान करने के लिये, कायोत्सर्ग धारण करने के लिए, आसन प्राणायामादि विधान करने के लिए यहां तक कि जितने भी नित्य के कृत्य हैं सबमें शक्ति की परमावश्यकता है शक्ति की प्रादुर्भूति बिना ब्रह्मचर्य को धारण किये हो नहीं सकती इसलिए मोक्षाभिलाषियों का

कर्तव्य है कि प्राण जाते भी ब्रह्मचर्य की रक्षा कर हमारे परम पूज्य प्रातःस्मरणीय तीर्थंकरों ने परंपराचार्यों ने और सद्गुरुओं ने यदि आत्मिक सच्ची शांति पाई है तो ब्रह्मचर्य व्रत माहात्म्य से ही पाई है। जो लोग शास्त्रोक्त विधि से शीलव्रत का पालन करते हैं वे तीन लोक महर्धिकों के द्वारा पूज्य, स्तुत्य और सेवनीय हो जाते हैं। धन्य है वे जीव जिन्होंने ऐसा उत्तम मनुष्य भव प्राप्त करके इस दुर्लभ दुर्धर शील व्रत का आचरण किया अथवा कर रहे और आगे करेंगे इस व्रत की महिमा बड़े- बड़े ज्ञानवान व्यक्तियों ने गाई है। सीता, द्रोपदी, अंजना सुलोचना, राजुल आदि देवियों ने भी इसी व्रत के प्रभाव से ऐसी प्रख्याति और यश प्राप्त किया जो यावच्चंद्र दिवाकर रहेगा इसलिये हे आत्मन् तुझे भी यदि इस संसार से पार होना है तथा तमाम कष्टों से निवृत्ति प्राप्त करना है तो इस कठोर व्रत का आचरण कर, यह व्रत आत्मा का ही एक अंग है।

परिग्रह त्याग महाव्रत

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे॥819॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षोडशः सर्गः - श्लोक-१)]

अर्थ- जिस प्रकार नाव में पाषाणादि का बोझा बहुत होने से अच्छी बढिया नवी रस्सी में बंधी हुई नाव भी समुद्र में डूब जाती है, उसी प्रकार रत्नत्रय गुणों कर युक्त महा पुरुषार्थ धारी संयमी मुनि यद्यपि गुणवान है तो भी परिग्रह के भार से संसार रूपी सागर में डूब जाते हैं। इसी का खुलासा करने को कहते हैं।-

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः।
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश॥822॥
स्वजनधनधान्यादाराः पशुपुत्रपुराकरा गृहं भृत्याः।
मणिकनकरचितशय्या वस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः॥824॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षोडशः सर्गः - श्लोक-४,६)]

अर्थ- वास्तु (घर) क्षेत्र (खेत) धन (स्वर्णादि) धान्य (अन्नादि) द्विपद (मनुष्यादि) चतुष्पद (पशु हाथी घोटकादि) शयनासन (सोने बैठने का सामनादि) यान (पालकी म्यानादिक सवारी) कुप्य (कपड़ा लत्तादि) भांड (बर्तन आदि)॥

इनका ही आगे फिर दूसरे श्लोक में वर्णन है-

अर्थ- स्वजन, धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, पुर, खानि, घर, नौकर (दासी दास) माणिक, रत्न, सोना, रूपा, शय्या वस्त्र, आभरण इत्यादि प्रकार के सभी पदार्थ बाह्य परिग्रह हैं।

अब अंतरंग के १४ प्रकार के परिग्रह को कहते हैं

मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षोडशः सर्गः में उद्धृत) ; ऐसा ही एक श्लोक पुरुषार्थसिद्धिउपाय में भी है (श्लोक 116)]

अर्थ- १ मिथ्यात्व २ पुरुषवेद ३ स्त्रीवेद ४ नपुंसकवेद ५ हास्य ६ रति ७ अरति ८ शोक ९ भय १० जुगुप्सा ११ क्रोध १२ मान १३ माया और १४ लोभ ऐसे चौदह प्रकार का अतरंग परिग्रह होता है। अथवा अतरंग परिग्रह के ये १४ भेद हैं। संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है- दर्शनमोह का भेद जो मिथ्यात्व प्रकृति उसके उदय से जीव के

तत्त्वार्थ का श्रद्धान नहीं होना, अतत्त्व को तत्त्व समझना, सत्यार्थ आप्त आगम गुरु के स्वरूप का श्रद्धान नहीं करना, कुदेव में देव बुद्धि करना, कुगुरु में गुरुबुद्धि करना, कुआगम को आगम मानना, कुधर्म को धर्म समझना तथा सत्य असत्य को समान मानना, देव गुरु धर्म स्वतत्त्व परतत्त्व को जानना ही नहीं, देहादिक परद्रव्य में आपा मानना, देह के रूप जाति कुल को ही आत्मा जानना, सो सब मिथ्यात्व है।

जिस कर्म के उदय से निःकपटता, निश्चलपना उदारपना होकर स्त्रियों के साथ रमने की इच्छा रूप परिणाम हो उसे पुरुष वेद कहते हैं।

जिसके उदय से मार्दव का अभाव और मायाचारादिक की अधिकता, काम का प्रवेश, नेत्रविभ्रमादि सुख के लिये पुरुष से रमने की इच्छा को प्राप्त हो उसे स्त्री वेद कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से काम की अधिकता, भंडशीलता (भांड सरीखे आचरण) स्त्री पुरुष दोनों के साथ रमने की इच्छा हो और जिसकी कामाग्नि ईटों के अवा की तरह प्रज्वलित रहती हो उसे नपुंसकवेद कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से हास्य (हँसी करना) प्रगट हो उसे हास्य कहते हैं।

जिसके उदय से देशादिकों में उत्सुकपना, आसक्तपना हो जावे सो रति है।

जिसके उदय से देशादिक में अनुत्सुकपना हो सो अरति है।

जिसके उदय से प्रिय वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु संयोग होने पर शोक हो जाय सो शोक है।

जिसके उदय से उद्वेग प्रगट हो जाय सो भय है।

जिसके उदय से अपने दोष का आच्छादन करना और दूसरे के कुल शीलादिकों में दोष प्रगटकर अवज्ञा करना, तिरस्कार करना, ग्लानि करना हो सो जुगुप्सा है।

अपने और दूसरों के घात कर डालने के परिणाम, तथा पर का उपकार करने का अभाव तथा परिणामों में क्रूरता सो क्रोध है। वह क्रोध पत्थर की लीक, पृथ्वी की लीक, बालू रेत की लीक और जल में लीक के समान होता है। जाति कुल बल ऐश्वर्य विद्या रूप लाभ इत्यादि के आश्रय से मदजनित उद्धतता से दूसरों के साथ नम्रीभूत होने के परिणाम नहीं होना सो मान है। वह पाषाण के स्तंभ समान, हाड समान,काष्ठ समान और लता समान होता है।

दूसरों को ठगने के परिणाम से परिणामों में कुटिलपना सो माया है। वह बाँस की जड, मेंढे का सींग, गोमूत्र के, अवलेखनी के तुल्य होता है।

जो अपने उपकार के लिये सांसारिक तमाम पदार्थ को प्राप्त करने की अभिलाषा सो लोभ है। सो कृमि राग, कज्जल, कर्दम और हरिद्रा के रंग के समान चार प्रकार है।

इन चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह के लोभ करने से यह जीव संसार रूपी जाल में फँसकर कभी भी छूट नहीं सकता। इसलिये हे भव्य जीव हो यह लोभ कितनी बुरी चीज है जो ग्यारहवे गुणस्थान तक पहुंचे हुए मुनि को संसार में जन्म मरण अर्ध पुद्गल परावर्तन तक करा ही देता है। इसलिये इस लोभ का संवरण करो। इसको अच्छा मत मानो इसके जाल में यदि एक वक्त फँस जाओगे तो फिर निकलना

मुश्किल होगा। क्योंकि वह लोभ बड़े बड़े ज्ञानी मुनिराजों को भी पतित कर दीर्घ संसार में भ्रमण कराकर एक श्वास में अठारह बार जनम मरण करा देता है। यही सिद्धांत यहां फिर बतलाया जाता है-

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्॥831॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षोडशः सर्गः - श्लोक-१२)]

अर्थ- परिग्रह संचय करने से काम (वांछा जागृत होती है। काम से क्रोध, क्रोध में हिंसा, उससे अशुभ कर्मों का बंध होता है, अशुभ कर्मों के बंध होने से नरकगति में जाना होता है, नरक में ऐसा दुख होता है जिसका वर्णन वचनों से हो नहीं सकता।

इस प्रकार दुख की मूल कारण इच्छा को जो परिग्रह की उत्पादक है माना गया है। उसी को फिर बतलाते हैं- सूत्र सिद्धांतों में परिग्रह को ही समस्त अनर्थों का मूल कारण माना गया है। क्योंकि जिसके होने से एक क्षण भर में रागादिक शत्रु जो आत्मा के साथ नाना प्रकार के अशुभ कर्मों का बन्ध कराते हैं जागृत हो जाते हैं वही परिग्रह- है। इसलिए इच्छा को अन्तरंग परिग्रह में गिनाया गया है। यह मनुष्य परिग्रह से पीड़ित होकर विषय रूपी सर्पों से काटा जाता है और काम के बाणों से भेदा जाता है, स्त्री रूपी व्याघ्री से मारा जाता है

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः॥845॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षोडशः सर्गः - श्लोक-२६)]

अर्थ- हे आत्मन्! कदाचित् सूर्य तो अपना तेज छोड़ दे और सुमेरु पर्वत अपनी स्थिरता को (अचलता) छोड़ देवे तो ये बात सम्भव हो

सकती है परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। इसलिए इस परिग्रह रूपी धूर्त से बचना ही मनुष्य की उत्तमता है। आत्मा का अहित करने वाला जान कर इस परिग्रह को इकदम छोड़ देना चाहिये ऐसा करने से ही सच्चा सुख मिल सकता है।

आगे इस परिग्रह से होने वाली ममता का थोड़ा सा और दिग्दर्शन कराया जाता है

जैसे ग्रामों में या शहरों में छोटे छोटे बच्चे अपने अपने मकानों पर चढ़ कर पतंग उड़ाते हैं सो उस पतंग में तो खुद उनकी शक्ति है, परन्तु वह बालक ऐसा समझता है कि यदि ये कनकी उड़ जायगी तो फिर हमारे पास कुछ भी नहीं रह जायगा। इसलिए उस कनकी को बड़ी लम्बी बांध कर उड़ाते हैं। तो समझिये कि कनकी में रस्सी बांधने की शक्ति उन लड़कों में भी है और बांधने की शक्ति उस कनकी में है तभी तो वे लड़के बांधते हैं और वह कनकी बंधती है। अगर उनमें शक्ति न होती तो न तो लड़के बांध सकते थे और न कनकी बंध सकती थी। ठीक इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में उपादान उपादेय रूप बन्ध बन्धक शक्ति है। इससे विचारिये कि जब वह बालक उस पतंग को डोरी लगा कर आकाश में उड़ा देते हैं परन्तु वह कनकी उस डोरी के बांध के निमित्त से स्वतन्त्र रूप से आकाश में उड़ने की शक्ति को रखते हुए भी स्वतन्त्र नहीं उड़ सकती है। क्योंकि उड़ाने वाला बालक जब चाहे ऊंचे उड़ावे जब चाहे नीचे उतार लेवे अगर वह पतंग रस्सी से नहीं बंधी होती तो न तो बालकों के चढ़ाने से ऊंची चढ़ती और न उतारने से नीचे आती, परन्तु डोरी रूप आशा से बंधी है इसलिये वह बालक उसको जैसा नचाते हैं वैसी नाचती है। उसी तरह शुद्धनय से भगवान समान यह

आत्मा अनादिकालीन अपनी भूल से परिग्रह रूप भूत को अपनाये हुए है जिससे संसार रूपी आकाश में ऊंची या नीची जन्म मरण रूप नर नारकादि गतियों में भ्रमण करता फिरता है यह भी आशा रूप डोरी से परिग्रह रूपी पतंग को उड़ा रहा है। जब ये इस डोर को तोड़ देगा उसी वक्त ये परिग्रह रूप पतंग का सम्बन्ध विच्छेद कर लेगा, फिर इसको किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहेगी और ये जीव अनाकुल होकर परम सन्तोषजन्य आनंद का अनुभव करने लगेगा। अतएव हे विवेकशील प्राणियो निश्चय करो कि यह भगवान समान आत्मा इस परिग्रह के जाल में फँसकर महादुखी हो रहा है। यह देखकर तथा वैसा ही अनुभव कर पूज्य महर्षियों ने इस अनर्थकारी परिग्रह के सर्वथा त्याग करने का उपदेश दिया है। यह परिग्रह रूप भूत तुम्हारा पीछा तभी छोड़ सकेगा जब तुम अपने आपको पहिचानने का यत्न करोगे और ये अनुभव करने लगोगे कि इस परिग्रह से तुम्हारा क्या वास्ता है? ऐसा करने से ही निश्चय कर सकोगे कि संसार में जितन पदार्थ हैं उनसे हमारा कोई सरोकार नहीं हैं ये भिन्न हैं और मैं इनसे सर्वथा भिन्न हूं। जब तक ऐसी प्रतीति नहीं हो तब तक तुम्हारी लालसा नहीं टूट सकती, लालसा ही परिग्रह है और बाह्य परिग्रह संग्रह करने में कारण है। और परिग्रह का संचय करना, रक्षण करना ही दुखदाई है। ख्याल करो जिस वृक्ष में फल नहीं होते हैं उस वृक्ष को पक्षी छोड़कर चले जाते हैं। जिस सरोवर में जल नहीं रहता (सूख जाता) है उस सरोवर को भी पशु छोड़कर चले जाते हैं या फिर पानी पीने नहीं आते हैं। ठीक इसी तरह संसार में कुटुम्बीजन या स्वार्थी मित्र मनुष्य के साथ तभी तक संबंध रखते हैं जब तक उसके पास धन रहता है। धन के न रहने पर पशुपक्षियों की तरह कुटुम्बी लोग भी संबंध छोड़कर चले जाते हैं। जैसे जंगल के जलते

ही मृगगण भाग जाते हैं। इस दृष्टांत से यही शिक्षा लो कि तुम्हारी आत्मा में जब तक लोभ रूपी द्रव्य रहेगा तभी तक लोभ के कुटुम्बी जन्म मरण जरा आदि इस आत्मा से संबंध रखेंगे, जहां लोभ को अपने पास से विदा किया कि उसके कुटुम्बी जन्मादिक भी पास नहीं भटकेंगे। जहां जन्म मरण रुके कि फिर तो तीन काल में भी तुम्हारा चतुर्गत्यात्मक परिभ्रमण नहीं हो सकेगा। इसलिये लोभ छोड़ना ही तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है। लोभ से बुरी दशा होती है। देखो-

लोभ से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। लोभ से तृष्णा बढ़ती है। तृष्णा बढ़ जाने से मनुष्य इस लोक और परलोक में दुःख भोगता है। हे आत्मन्! लोभ करने से नाना प्रकार के भय उपस्थित होने लगते हैं। अर्थात् भय आ घेरते हैं। लोभी का चित्त कभी स्थिर नहीं रहता है। सदा चंचल बना रहता है। लोभी को लेशमात्र भी सुख और संतोष नहीं रहता है। जब तक चित्त में लोभ रहेगा तब तक अन्याय और पाप की लहरें उठती ही रहेंगी, ऐसे महापाप के बाप रूप लोभ का सदा के लिये परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

आरम्भो जंतुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात्।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥857॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षोडशः सर्गः - श्लोक-३८)]

अर्थ- हे आत्मन्! परिग्रह से जीवों के इस लोक में आरंभ होता है, आरंभ से हिंसा होती है, हिंसा से कषाय होती है, और कषाय से नरकों में जन्म होता है। जहां पर ३३ सागर तक घोर यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। प्रिय भव्यात्माओ! क्या आप नहीं जानते कि कर्म की आधीनता में रहने वाले ये संसारी प्राणी कषाय से तमाम चेतनाचेतनात्मक पर पदार्थों से सम्बन्ध रख कर कैसे कैसे अनर्थ

करते हैं? कहने को तो मां बाप भाई भौजाई बहिन मामा मौसा मित्र आदि अनेक सगे संबन्धी हैं पर वह जिसके पीछे हैं वह धन धान्यादिक हैं। जब तक आपके पास धन धान्यादिक हैं तब तक सब लोग सगे सम्बन्धी बने रहते हैं बल्कि धन के रहते तो बेपहिचान के लोग भी जबरदस्ती के सम्बन्ध बतलाकर संबन्धी बन जाते हैं, सेवा-सुश्रूषा करते हैं, परन्तु धनादिक के न रहने पर और की तो बात ही क्या अपने से उत्पन्न तथा अपनी सहधर्मिणी ऐसे पुत्र स्त्री भी अपना संबंध छोड़ देते हैं। तथा सेवा-सुश्रूषा करना छोड़ देते हैं। कितनी ही जगह तो यहां तक देखा गया कि पति के वृद्ध होते ही पत्नी ने अपने पुत्रवधू और पुत्र के साथ अलग रहकर पति को रोटी के टुकड़े का मुहताज बना दिया। पति दर- दर के भिकारी बना दिये जाते और पत्नी, पुत्र पुत्रियों के साथ मौज उड़ाती है। एवं पुत्र और पुत्रवधुओं द्वारा वृद्ध माता पिता त्याग दिये जाते हैं वे बिचारे खाने पीने को लाचार रहते, पर लड़कों और बहुओं के पास उनके दुख देखने और सुनने को न तो कान हैं न आंख ही हैं। ये सब क्यों? इस परिग्रह देव की ही कृपा है। कि जिसका स्वार्थ बनता है वह तो स्वार्थी प्रेम बतलाता है, दूसरे या तो फूटी आंखों देखेंगे नहीं या फिर पूर्ण द्वेष रखने का व्यवहार चालू हो जाता है। कितने ही जगह बाप बेटा, मां बेटा, भाई भाई में, पति पत्नी में धन के कारण कोर्टों में मुकद्दमेबाजी भी चलती है। लाखों रुपया पानी की तरह बहाया जाता है पर परस्पर में मेल मिलाप नहीं हो पाता। जर और जमीन के कारण राजाओं- राजाओं में भयंकर युद्ध होते हैं। लाखों प्रजा के लोग लाश बना दिये जाते हैं; एक क्या ऐसे अनेक हेतु गिनाए जा सकते हैं जिनसे जाना जा सकता है कि परिग्रह कितना अनर्थ का कारण है। इसके कारण लोक में कभी भी किसी को शांति नहीं मिल

सकती है और न मिली है। शांति तो उन्हें ही मिली है जिन्होंने संतोष का अवलंबन किया तथा संपूर्ण पर पदार्थों से नाता तोड़ा। इसलिए इस परिग्रह त्याग महाव्रत को नवकोटी शुद्ध पालना चाहिये ः तीन लोक में वही मान्य हुए हैं जिन्होंने इस व्रत आचरण कर अपने आत्मा का परिग्रहण किया है।

प्रश्न- ये पंच महाव्रत दया में गर्भित हैं या अहिंसा रूप हैं?

उत्तर- इन पांच महाव्रतों का पालन तो तीर्थंकरादिक महापुरुषों ने भी किया है। उन्होंने ऐसा ही उपदेश दिया है कि हिंसा महापाप है, इसका त्याग नव कोटी से करके अहिंसादि महाव्रतों का पालन करना चाहिये। इसलिए ये व्रत अहिंसा रूप ही शिक्षा देते हैं, दया रूप शिक्षा नहीं देते हैं।

यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधार्कोदयस्य च।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका॥868॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तदशः सर्गः - श्लोक-५)]

अर्थ- लोगों के यम नियम और प्रशम भावों के राज्य का तथा सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य के उदय का प्रतिषेध करने वाली एवं विवेक को रोकने वाली एकमात्र यह आशा ही है। संसारी जीवों के आशा ही तो ५ इन्द्रियों को उन्मत्त करने वाली है। आशा ही विषयों को बढ़ाने वाली मंजरी है। संसार में जितने भी दुःख हो सकते हैं उनकी एकमात्र यह आशा ही मूल कारण हो सकती है। कहा गया है-

आशायाः ये दासाः, ते दासाः सर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते लोकः ॥

अर्थ- जो जीव आशा के दास हैं वे सर्व लोक के दास हैं क्योंकि वे आशा रखते हैं। जो आशा के दास नहीं हैं उन जीवों का संसारमात्र दास है। इसलिए यह आशा रूपी पिशाचिनी सर्वथा त्यागने योग्य है। हे आत्मन् जिस पुरुष की आशा रूपी पिशाचिनी नाश को प्राप्त हो गई उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना विवेक करना, तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति करना, निर्ममत्वपना का अवलंबन करना सत्यार्थ है। सार्थक है।

निराशतासुधापूरैर्यस्य चेतः पवित्रितम्।
तमालिङ्गति सोत्कण्ठं शमश्रीर्बद्धसौहृदा॥876॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तदशः सर्गः - श्लोक-१३)]

अर्थ- हे आत्मन्! जिस पुरुष का चित्त निराशारूपी अमृत प्रवाह से पवित्र हो चुका है उस पुरुष को प्रीति से बंधी हुई प्रशम भाव रूपी लक्ष्मी उत्कण्ठा पूर्वक आलिंगन करती है।

इस प्रकार परिग्रह महाव्रत में दूषण लगाने वाली जो आशा थी उसका जिसने निर्मूलन कर दिया वही पुरुष धन्य हैं। उन्हीं का मनुष्य भव सफल है और वे ही तीन लोक में पूज्य हैं।

अब तीन गुप्तियों का वर्णन करते हैं- मन वचन काय की पापों से रक्षा करना गुप्ति है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा है की

"सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः"

[श्री आचार्य उमास्वामी विरचित 'तत्त्वार्थ सूत्र' - अध्याय ९ - सूत्र ४]

अर्थ- मन वचन काय की क्रिया का यथेष्ट आचरण का रोकना सो योगनिग्रह है। इस लोक में तो लोकरंजनादिक सत्कार और परलोक सम्बंधी विषय सुखादि की अपेक्षा रहित केवल स्वरूप की विशुद्धिता

के लिए योगों का निग्रह करना गुप्ति है मन वचन काय की स्वेच्छा प्रवृत्ति से जो कर्मों का आस्रव होता था सो उनका निरोध कर देने से संवर होता हैं। शरीर का परित्याग जब तक नहीं हो जाय तब तक संक्लेश के अभाव करने के लिए मन वचन काय के योगों को रोकने की प्रतिज्ञा है, तो भी आहार विहार नीहार प्रश्नादिक की अपेक्षा से योगों की प्रवृत्ति अवश्य होती है। उस प्रवृत्ति में समिति रूप प्रवर्तने से कर्मों का आस्रव नहीं होता है किन्तु संवर होता है। एक दृष्टान्त- जैसे एक राजा के राज्य की रक्षा करनेवाला किला (दुर्ग) हो जिस राजा के राज्यशासन में किला नहीं हो वह राजा अपने राज्य की रक्षा नहीं कर सकता है। उसी प्रकार एक संयमी पुरूष के भी दुर्ग की तरह पंच महाव्रतों की या आत्मिक शुद्ध भावना की विषय कषाय रूपी धूर्तों से रक्षा कैसे की जा सकती है। इसलिए जैसे राजा को अपने राज्य की रक्षा के लिए किले की आवश्यकता होती है उसी तरह संयमी के लिए अपने ग्रहण किये हुए महाव्रतों की रक्षा के लिए तीन गुप्तियों की बड़ी जरूरत है। इन गुप्तियों का सामान्य लक्षण पूज्यपाद स्वामी ने यह बतलाया है कि " संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा करना सो गुप्ति है। गुप्ति तीन प्रकार की होती हैं (१) मन गुप्ति (२) वचन गुप्ति और (३) काय गुप्ति। मन को संसार के कारणों से रोकना मनोगुप्ति है। एवं वचनगुप्ति और कायगुप्ति जानना चाहिए।

अब पांच समितियों का स्वरूप कहते हैं-

दूसरे प्राणियों की पीड़ा के परिहार करने की इच्छा से भले प्रकार यत्नाचार रूप प्रवृत्ति करना समिति है। समितियां पांच प्रकार की होती हैं (१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति

(४) आदाननिक्षेपणसमिति और (५) उत्सर्ग- समिति।

जो मुनिजीवों के स्थान योन्यादिक का ज्ञान रखता हो और धर्म के लिये यत्न में सावधान हो ऐसे साधु का सूर्य का उदय हो जाय और नेत्र इन्द्रिय में विषय ग्रहण की सामर्थ्य उत्पन्न हो जावे तथा मनुष्य तिर्यंचों के परिभ्रमण से ओस बरफ इत्यादिक जिस मार्ग से दूर हो गई हो ऐसे मार्ग में अन्य विषयों से मन को रोककर धीरे-धीरे पैर रखता हुआ शरीर के आंगोपांगादिकों को संकोच रूप करता चार हाथ प्रमाण आगे की पृथ्वी के देखने में दृष्टि को लगाता हुआ गमन करता है उसके ईर्यासमिति होती है। इससे पृथ्वीकाय जलकाय के जीवों की विराधना का अभाव होता हैं।

हित मित संदेह रहित वचन बोलना भाषा समिति है। इसका स्वरूप ऊपर आ गया।

दिन में एकबार निर्दोष आहार ग्रहण करना सो एषणा समिति है। इस समिति का धारक मुनि गृहादि परिग्रह रहित पुण्यरूपी रत्नों से भरी हुई देह रूपी गाड़ी को चलाने के लिये ओंगन की तरह प्रमाणीक आहार लेकर समाधि तपों के प्राप्त करने का इच्छुक है और उदर में उत्पन्न हुए क्षुधादि के दाह के उपशमन करने के लिये औषधि की तरह प्रमाणीक आहार ग्रहण करता हुआ भोजन के आस्वादन की लालसा रहित देश कालादि सामर्थ्य सहित उत्तम कुल वाले के यहां उत्पन्न हुवा (बनाया गया) अनिंद्य और उद्गम उत्पादन एषणा संयोजन प्रमाण अंगार धूप कारणादि दोष रहित नवधा भक्ति सहित कृत कारित अनुमोदनादि दोष रहित उत्तम कुल में उत्पन्न होने से भक्ति से दिया गया अन्तराय टाल कर खड़े खड़े अपने हाथ रूपी पात्र में

भोजन करें। भोजन करते समय याचना नहीं करे, हुंकारादि नहीं करे, आधा पेट भोजन से भरे चौथाई जल से भरे और चौथाई खाली रखे। केवल रत्नत्रय का सहकारी शरीर को जानकर धर्म के पालन करने के लिए आहार मुनिराज लेते हैं, आहार को शरीर की पुष्टता आस्वादनादि दोष रहित ग्रहण करे ऐसे मुनि एषणा समिति होती है।

धर्म से विरोध रहित अन्य जीवों की विराधना न करने के लिए शरीर, पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों को नेत्रों से देखकर पीछी से शोधकर ग्रहण करना, धरना, प्रवर्तन करना सो आदान निक्षेपण समिति कहलाती है। त्रस स्थावर जीवों को बाधा जिस तरह नहीं हो उसी तरह शुद्ध, जन्तु रहित, अंकुर रहित, मार्ग में चलने वालों के देखने में न आवे, ऐसी प्रासुक भूमि में मलमूत्र खखार थूक आदि क्षेपण करना तथा प्रासुक जल से शौच क्रिया करना सो उत्सर्ग समिति है। इसी को प्रतिष्ठापना समिति भी कहते हैं।

प्रश्न- ईर्यासमित्यादि पांचों समिति कायगुप्तिमें अंतर्भूत हो सकती हैं फिर इनका अलग अलग कथन क्यों किया?

उत्तर- प्रमाणीक काल पर्यंत संपूर्ण योगों का निग्रह करना गुप्ति है। और गुप्ति में बहुत समय तक ठहरने में असमर्थ साधु का अपने कल्याण रूप क्रिया में प्रवृति होना सो समिति है। यही अंतर है। इस प्रकार पांच समितियों का वर्णन किया।

अब बारह भावनाओं का वर्णन करते हैं-

अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः।
या मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यन्तवन्धुराः॥56॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (द्वितीयः सर्गः - श्लोक-७)]

अर्थ- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ऐसी ये बारह भावनाएं होती हैं। मुमुक्षु जीव इनका बार बार चिंतवन करते हैं। इनके चिंतवन करने से वैराग्य की दृढ़ता होती है, अशांति और व्याकुलता नष्ट हो जाती तथा शांतिजन्य सुख प्रादुर्भूत हो जाता है। कहा भी है-

अनित्याशरणसंसार एकत्व अन्यत्व- अशुचान्।
आस्रव संवर निर्जरा लोक बोध धर्म जान॥
ये ही बारह भावना करो निरंतर भान।
इनके भांये आत्मा को न होत भगवान॥
माता है वैराग्य की बारह भावन जान।
इनका जो चिंतन करे सो होवे भगवान॥

अब इनका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं-

अध्रुवाणि समस्तानि, शरीरादीनि देहिनाम् ।
तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः, शोको दुष्कर्मकारणम् ॥441॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका'
(अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक ४५)]

जेती जगत में वस्तु तेती अथिर परिणमती सदा।
परिणमन राखन नाहिं समरथ इन्द्र चक्री मुनि कदा॥
सुत नारि यौवन और तन धन जानि दामिनि दमक सा।
ममता न कीजे धारि समता मानि जल में नमक सा॥१॥

[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

ये इन्द्रिय विषय, धन यौवन जीवितव्य जल के बुदबुदे की तरह अस्थिर स्वभाव हैं। गर्भादि अवस्था विशेष हैं सो संयोग वियोग रूप

हैं। मोह से अज्ञानी जीव नित्यता मान रहे हैं। संसार में अपने ज्ञानदर्शनोपयोग स्वभाव से भिन्न जितनी वस्तुएं हैं उनका संयोग ध्रुव नहीं है। जन्म मरण सहित है। यौवन बुढापे से ग्रस्त है। लक्ष्मी विनाश सहित है। जहां संयोग है वहां वियोग जरूर है। इन्द्रियों के विषय इन्द्रधनुषवत् चंचल हैं, देखते देखते नाश हो जाते हैं। जैसे मार्ग में सामने आने वाला रास्तागीर का संसर्ग क्षण भर का होता है उसी तरह मित्र वा कुटुम्बीजनों का संबंध भी अत्यंत अल्पकाल का जानना चाहिये। नाना प्रकार के सुगंधित और स्वादिष्ट भोजन पान सुगंध वस्त्र आभरणादि से बहुत समय तक लालन पालन किया हुआ भी देह क्षणमात्र में विनश जाता है। लक्ष्मी तो चक्रवर्तियों की भी स्थिर नहीं रहती इस प्रकार सब पदार्थों का अनित्य चिंतवन करना अनित्य भावना है। ऐसा चिंतन करने वाले के संपूर्ण देह धन कुटुम्बादि में आसक्तता के अभाव हो जाने से वियोग हो जाने पर भी परिणामों में पीड़ा उत्पन्न नहीं होती है।

अशरण भावना का वर्णन-

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य, मृगशावस्य निर्जने ।
यथा न शरणं जन्तोः, संसारे न तथापदि ॥442॥
[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका'
(अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक ४६)]

चेतन-अचेतन सब परिग्रह हुआ अपनी थिति लहै।
सो रहै आप करार माफिक अधिक राखे ना रहै।।
अब शरण काकी लेयगा जब इन्द्र नाहीं रहत हैं।
शरण तो इक धर्म आतम याहि मुनिजन गहत हैं।।२।।
[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

जो अशरण भावना भाता है वह संसार में किसी चीज को अपना शरण देने वाला नहीं मानता तथाहि- जैसे एकांत वन में बलवान और भूखा तथा मांस खाने का अभिलाषी ऐसे व्याघ्र से पकड़े हुए मृग के बालक को कोई शरण देने वाला नहीं है। उसी तरह जन्म जरा मरण रोग, प्रिय का वियोग, दुष्ट का संयोग, वांछित का अभाव, दारिद्र्य दुर्जनादि से उत्पन्न दुःख पीड़ित प्राणी को कोई शरण देने वाला नहीं हैं। बहुत पुष्ट किया हुवा अपना शरीर भोजन के प्रति सहायक है, कष्ट में सहायक नहीं है, कष्ट आने पर आत्मा को अपना शरीर ही दुख देता है। बड़े प्रयत्न से इकट्ठा किया हुवा धन भी परलोक में नहीं जाता है। जिन के सुख दुख में शामिल होकर सहायक बने ऐसे मित्रवर्ग भी मरण से रक्षा नहीं करते हैं। संपूर्ण कुटुम्बी जन भी रोग आने पर रोग से रक्षा नहीं करते हैं। इस संसार में कहां मरण नहीं देखते हो स्वर्गलोक का इन्द्र तथा अणिमादिक ऋद्धियों के धारक असंख्यात देव भी क्षणमात्र रक्षा नहीं कर सके तो अन्य ग्रह पिशाच योगिनी यक्ष क्षेत्रपाल मंत्र तंत्र यज्ञ होम औषधि, वैद्य रसायनादिक कौन रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं। मरण तो आयुकर्म के पूर्ण होने से होता है। और आयुकर्म के देने को कोई समर्थ नहीं है क्योंकि देवों का इन्द्र भी अपनी आयु पूर्ण होने पर मरने से रक्षा करने में असमर्थ है। और की तो क्या बात कहना। अगर मरण करते हुए मनुष्य की देव देवी मंत्र तंत्र क्षेत्रपालादिक रक्षा करते तो मनुष्य अक्षय हो जाते। देखो नाना प्रकार के उपाय करके भी कोऊ बलवान ऐश्वर्यवान धनवान ज्ञानवान शूरवीर तथा निर्बल निर्धन रंक अज्ञान असक्त मरण से नहीं बचे। ऐसा प्रत्यक्ष देखते हुए भी जो ग्रह भूत पिशाच योगिनी यक्ष यंत्र तंत्रादिक को शरण मानते हैं सो ये बड़ा भारी मिथ्यात्व का उदय है। इस प्रकार अन्य असातादिक कर्म के

उदय को भी निवारण करने को कोऊ शरण नहीं है। एक सम्यग्भाव से आचरण किया हुआ धर्म ही शरण है। धन मित्रादिक कोऊ भी रक्षक नहीं हैं। इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षा चिंतवन करनेवाले के "मैं नित्य अशरण हूं" ऐसे भाव से सांसारिक समस्त बंध में ममत्व के अभाव से भगवान सर्वज्ञ कथित वचन में लीनता उत्पन्न होती है। इस प्रकार अशरण भावना कही।

संसार भावना का स्वरूप

यत्सुखं तत्सुखाभासं, यद्दुःखं तत्सदाञ्जसा ।
भवे लोकाः सुखं सत्यं, मोक्ष एव स साध्यताम् ॥443॥
[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका' (अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक ४७)]

सुर नर नरक पशु सकल हेरे, कर्म चेरे बन रहे।
सुख शासता, नहिं भासता, सब विपत्ति में अति सन रहे।।
दुःख मानसी तो देवगति में, नारकी दुःख ही भरै।
तिर्यंच मनुज वियोग रोगी शोक संकट में जरै॥३॥
[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

संसार नाम , कर्म के संबंध से चारों गतियों में संसरण या परिभ्रमण करने का है । इस संसार में यह जीव एक शरीर को छोड़ता है, तो दूसरे को ग्रहण करता है। इस प्रकार निरंतर एक एक को छोड़ना और नवीन नवीन ग्रहण करना तथा नाना प्रकार की देहों में भ्रमण करना सो संसार है। जब पापकर्म का उदय आता है, तब नरकों में जन्म लेकर नाना प्रकार वचन के अगोचर ताडन मारण छेदन भेदन शूलारोपण वैतरणी मज्जन शाल्मली घसीटन तथा असुरों के द्वारा

किया दुःख शरीर संबंधी मानसिक दुःख क्षेत्र जनित दुःख परस्पर किया दुःख ऐसे पांच प्रकार के घोर दुःखों को असंख्यात काल पर्यंत नरक धरा में भोगते हैं। जिनको नेत्र के टिमकार मात्र भी सुख नहीं है। और तिल तिल प्रमाण खंड करने पर भी, घाणी में पेलने पर भी, आयु पूर्ण हुए बिना मरण नहीं होता। पारे की तरह देह के खंड खंड भी मिल जाते हैं। कदाचित नरक से आयु पूर्ण कर निकले तो नाना प्रकार की तिर्यंच योनि में जन्म प्राप्त करें। वहां गर्भ में ही छेदन मारणादि दुःख को प्राप्त होता है। तथा क्षुधा तृषा शीत उष्णजनित घोर वेदना भोगता है। जहां परस्पर मनुष्यों की तरह अपना सुख दुख कहना श्रवण गोष्टी करना उपाय करना नहीं है। सदाकाल क्षुधादि वेदनाओं से पीड़ित भयभीत रहते हैं। अनेक तिर्यंच मारकर खा जाते हैं दुष्ट मनुष्य मारकर खा जाते हैं। जहां तहां ढूंढकर मार डालते हैं। तथा नाक फाड़कर रस्सी सांकल डालकर बांधे जाते हैं। बहुत भार लादा जाता है। मर्मस्थान में तीक्ष्ण मारों से मारते हैं। भागने छिपने नहीं देते। अपना दुख सह सकते नहीं। इनकी कोई पुकार सुनने वाला नहीं। रोगादिक की तीव्र वेदना होने पर भी मर्मस्थानों में चोट देकर मारे जाते हैं, उछलते हैं, पड़ते हैं, अत्यंत पराधीनता भोगते हैं। जिनके पास कार्य करने को हस्तादिक अवयव, कहने को वचन नहीं, किससे अपने दुख कहें, कौन सुने? कौन पूछे? कोई राजादिक इनकी सहायता करता नहीं। अशक्त होकर पड़ जांय तो कौन उठावे! थल में जल में कर्दम में शीत में घाम में वर्षा में पड़े हुए को असमर्थ जानकर काकादिक दुष्ट पक्षी तीक्ष्ण लोह समान चंचू से नेत्रों को निकाल ले जाते हैं। मर्मस्थानों में काट-काट कर खा जाते हैं। इस प्रकार और भी अनेक दुःख तिर्यंच गति में प्रत्यक्ष दीखते हैं। जो अन्याय से दूसरों का धन खा जाते हैं। लोभी व्यसनी होकर कुदान

लेते हैं। अभक्ष्य भक्षण करते हैं, रात्रि भोजन करते हैं, विकथा करते हैं, इन सबका फल तिर्यंच गति में भोगते हैं। तिर्यंचों में जो पक्षी हैं वे भी अत्यंत दुखी रहते हैं। वृक्षों की छोटी २ शाखाओं को मजबूत पकड़कर भयभीत हुए भूख- प्यास की बाधा, तीव्र पवन की बाधा, वर्षा की बाधा, शीत बरफ के पड़ने की बाधा को, गुलेल की मार को, अत्यंत अत्यंत भोगते अंधकार की रात्रि को भयभीत होकर अकेले ही व्यतीत करते हैं। ऐसी तिर्यंच गति में मायाचार के परिणाम से भोले असमर्थ जीवों के धन विषय भोगों को हरने से अनेक पर्यायों में असंख्यात काल तक ऐसे दुख भोगते हैं। कि उनके कहने को कोई समर्थ नहीं है।

मनुष्यगति के दुःख-

कभी मनुष्य हो जावे तो वहां भी गर्भालय में संकुचित अंग रहा महा घृणा के स्थान में नौ दश माह पूर्ण करके योनि संकट के दुख भोगकर बाहर आता है। फिर बाल्य अवस्था में नाना प्रकार के रोग जनित दुःख तथा माता पिता के मरण होने से वियोग जनित दुःख भूख प्यास शीत उष्ण जनित वेदना को सहता हुआ महान दुख भोगता है। फिर विषय भोगों की चाह जनित दारिद्र्य जनित अपने भय से उत्पन्न, अलाभ से उत्पन्न, घोर दुःख भोगता है। अगर कोई पुण्यवान भी मनुष्य होवे तो उसको भी इष्ट का वियोग अनिष्ट का संयोग जनित दुःख देखते हैं कोई के स्त्री नहीं, कोई के स्त्री है तो पुत्र नहीं है, पुत्र है तो धन नहीं, धन है तो शरीर नीरोग नहीं, शरीर निरोग है तो धन का नाश हो जाता है, पुत्र कपूत होय, स्त्री दुराचारिणी होय, स्त्री पुत्र का मरण हो जाय, बैरी सम बांधव होते हैं, राजा लूट लेता है, अग्नि जला देती है, धनवान से निर्धन हो जाता है इत्यादिक दुःख

मनुष्य गति में दीखते हैं।

देवगति के दुःख-

देव पर्याय में भी जीव इष्ट वियोगादिक दुःख तथा महर्द्धिक देवों की संपदा देखकर तथा विषयों की तृष्णा से दुःख तथा स्वर्ग लोक से पतन होने का घोर दुःख भोगते। इस प्रकार संसारी जीवों ने अनंत काल से चारों गतियों के नाना दुःख भोगते हुए अनंत परिवर्तन पूर्ण किये। परिवर्तन नाम परिभ्रमण का है। वह परिवर्तन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पांच प्रकार का होता है। इनका स्वरूप ग्रंथांतर से जानना चाहिये। इत्यादि रूप से संसार के स्वभाव का चिंतवन करना सो संसार भावना है। इस प्रकार संसार भावना का चिंतवन करने वाला पुरुष संसार के दुःख से भयभीत होकर संसार से विरक्त हो जाता है। यदि विरागी हो जावे तो संसार से निकलने का प्रयत्न करने लग जाय। इति संसार अनुप्रेक्षा।

एकत्व भावना-

जनम मरण जरा रोग वियोगादिक के महा दुःखों में आपको असहाय एकाकी चिंतवन करना सो एकत्वानुप्रेक्षा है। संसार में मैं अकेला ही अनादिकाल से हूं, मेरे स्वजन कोई नहीं हैं, न कोई परिवार के हैं, जो मेरे व्याधि जरा मरणादिक दुःख को दूर कर सके। एक धर्म ही मेरा सहाई है, शरण है, अविनाशी है। मैं तो रोग में,जनमते समय, मरते समय, दुःख भोगते समय हर समय अकेला ही हूं। यह कुटुम्ब मेरा तो नहीं है पर अपने स्वार्थ के लिये मेरा बन रहा है, ये मेरी कर्म जनित वेदना के समय कोई सहायक नहीं हो सकते, वह तो मुझे अकेले को ही भोगना पड़ती है। इस प्रकार चिंतवन करने को एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं। कहा भी है-

स्वजनो वा परो वापि, नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जितं कर्म, जीवेनैकेन भुज्यते ॥444॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका'
(अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक ४८)]

अर्थ- परमार्थ से विचार कर देखा जाय तो न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है, न कोई कर्मरस के भोगने में साथी हैं, कमाये हुए कर्म के रस को तो यह जीव एकाकी ही भोगता है!

क्यों भूलता, शठ फूलता है देख परिकर थोक को।
लाया कहाँ ले जायगा क्या फौज भूषण रोक को॥
जनमत मरत तुझ एकले को काल केता हो गया।
संग और नाहीं लगे तेरे सीख मेरी सुन भया॥४॥

[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

इस प्रकार का चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है ऐसा चिंतवन करने वाले को स्वजन में प्रीति नहीं और परजन में द्वेष नहीं उत्पन्न होता है। इसलिए सबमें राग द्वेष को छोड़ कर मोक्ष के

लिये ही प्रयत्न करना अच्छा है।

अन्यत्व भावना

क्षीरनीरवदेकत्र, स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदो यदि ततोऽन्येषु, कलत्रादिषु का कथा ॥445॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका'
(अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक ४९)]

अर्थ- दूध और पानी की तरह एकमेल हुए इस शरीर और आत्मा में जब प्रत्यक्ष भिन्नता सब संसार देखता है तब अत्यंत दूरवर्ती स्त्री पुत्र मित्र गाय बैल आदि स्वजाति चैतन्य पदार्थ और धन धान्य मकान आदि विजातीय अचेतन पदार्थ तो एक हो ही कैसे सकते हैं। ये तो प्रत्यक्ष भिन्न दीखते हैं। इस प्रकार शरीरादिक से अपने स्वरूप का अन्य चिंतवन करना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यह शरीर इन्द्रिगम्य है, और मैं आत्मा अतीन्द्रिय हूं। शरीर अज्ञानी है, मैं ज्ञानी हूं। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूं। शरीर आद्यंतवान है, मैं अनादि अनंत हूं। संसार में परिभ्रमण करने वाले मेरे अनंत शरीर बीत चुके हैं। इस प्रकार का चिंतवन करना अन्यत्व भावना है! एक कवि ने कहा

चेतनस्वरूप तेरा तूने जड़ बना लिया,
इस मोह अंधकार ने चेतन छिपा लिया॥

इसी प्रकार भगवान अमृतचंद्राचार्य ने नाटकसमयसार कलश में बतलाया है-

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः।।३४।।

[आचार्य प्रवर अमृतचन्द्र विरचित 'समयसार कलश'
(अजीव अधिकार श्लोक 2)]

अर्थ- हे भव्य तुझे निकम्मा कोलाहल करने से क्या लाभ है। इस कोलाहल से तो तू विरक्त हो और एक चैतन्य मात्र वस्तु में आप निश्चल लीन होकर देख ऐसा छह महीना तक अभ्यास कर। इस

प्रकार के अभ्यास करने से अपने हृदय सरोवर में जिसके तेजपुंज का (प्रताप का) प्रकाश इस पुद्गल से भिन्न है उस चैतन्यज्योति को तू प्राप्त कर लेगा संसार के प्रपंचों से तू बच जायगा।

अब अशुचिभावना का वर्णन करते हैं-

सयलकुहियाण पिंडं, किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं ।
मलमुत्ताणं य गेहं, देहं जाणेहि असुइमयं ॥83॥
[श्री स्वामी कार्तिकेय विरचित 'श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा']

अर्थ- हे भव्य तू इस देह को अपवित्र जान। कैसा ये देह है? संपूर्ण निंदनीक वस्तुओं का समूह है, तथा उदर के जीव लट तथा अनेक प्रकार के निगोदादिक जीवों से भरा हुआ है और अत्यंत दुर्गंध स्वरूप है, मल मूत्र का जो घर है। इस प्रकार शरीर का अशुचि रूप चिंतवन करना सो अशुचि भावना है। अशुचिपना दो तरह का है- एक लौकिक दूसरा लोकोत्तर आत्मा में कर्म कलंक का नाश होकर अपने स्वरूप में अवस्थित होना सो लोकोत्तर अशुचिपना है। इसके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, सम्यग्दर्शनादि के धारक साधु हैं और साधुओं के आधार भूत निर्वाणभूम्यादिक मुक्त होने के उपाय हैं। इसलिये शुचि नाम के योग्य हैं। ज्ञानार्णव में कहा है-

तथाऽशुचिरयं कायः; कृमिधातुमलान्वितः ।
यथा तस्यैव सम्पर्कादन्यत्राऽप्यपवित्रता ॥446॥
[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका'
(अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक 50)]

क्या देख राचा फिरै नाचा रूप सुन्दर तन लहा।
मल मूत्र भाण्डा भरा गाढ़ा तू न जानै भ्रम गहा।
क्यों सूंघ नाहीं लेत आतुर क्यों न चातुरता धरै।
तुहि काल गटकै नाहिं अटकै छोड़ तुझकों गिर परै ॥६॥

[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

अर्थ- हड्डी मांस चर्बी मज्जा पीब और कीडों से भरा हुवा यह शरीर है। इसमें कितने ही प्रकार की अपवित्र धातुएं भरी हुई हैं। इसमें मल मूत्र कफ, लार, सेडा, कर्णमल, चक्षुमल आदि नवमल महाघिनावने बहते रहते हैं। किस किस पदार्थ का वर्णन किया जाय। इस शरीर का वर्णन देखना हो तो भगवती आराधना की अपराजित सूरिकृत टीका देखना चाहिये

सज्जनचित्तवल्लभ में ऐसा कहा है-

अङ्ग शोणितशुक्रसम्भवमिदम्मेदोऽस्थिमज्जाकुलम्,
बाह्ये माक्षिकपत्रसन्निभमहो चर्म्मावृतं सर्वतः ।
नोचेत्काकबकादिभिर्वपुरहो जायेत भक्ष्यं ध्रुवं,
दृष्ट् वाद्यापि शरीरसद्मनि कथं निर्वेगता नास्ति ते ॥८॥

[श्री मल्लिषेण आचार्य विरचित 'सज्जन चित्त वल्लभ']

भूधरदासजी ने कहा है-

मात-पिता-रज-वीरज सौं, उपजी सब सात कुधात भरी है।
माँखिन के पर माफिक बाहर, चाम के बेठन बेढ़ धरी है ।
नाहिं तौ आय लगें अब ही बक, वायस जीव बचै न घरी है।
देहदशा यहै दीखत भ्रात! घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है ॥२०॥

[श्री भूधरदास जी विरचित 'भूधर जैन शतक']

इसका भाव ऊपर लिखे हुए श्लोक से मिलता हुवा ही है। इससे नहीं लिखा जाता है! लौकिक शुचिपना आठ प्रकार का है- कालशुद्धि, अग्निशुद्धि, भस्मशुद्धि, मृतिकाशुद्धि, गौमयशुद्धि, जलशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, ग्लानिरहितपनाशुद्धि।

कालशुद्धि- जैसे रजस्वला स्त्री वा प्रसूता स्त्री तीन रात्रि अथवा डेढ माह रात्रि बाद शुद्ध मान ली जाती है। उसके साथ उन दिनों में सब तरह का व्यवहार बंद रहता है। उस समय के बीत जाने बाद सब व्यवहार चालू हो जाता है। पहिले ग्लानि रहती है पीछे ग्लानि हट जाती है। इसको लौकिक शुद्धि भी कहते हैं।

अग्निशुद्धि- धातु के बर्तन जो मल मूत्र आदि से अपवित्र हो जाते हैं या रजस्वला और प्रसूता स्त्री के स्पर्श करने से अपवित्र हो जाते हैं उनको अग्नि में तपा लेने से शुद्ध मान लेते हैं इसको अग्नि शुद्धि कहते हैं।

भस्मशुद्धि- जूठे बर्तन या और और तरह से अपवित्र हुए बर्तनों को राख से मांजने पर पवित्र मान लेना।

मृतिकाशुद्धि- मल मूत्रादि के स्पर्श होने से हाथ पैर आदि स्थानों को मिट्टी से साफ कर लेने से जो शुद्धि मानी जाती है उसे मृतिका शुद्धि कहते हैं।

गोमयशुद्धि- गोमय गाय का मल गोमय कहा जाता है। इसको वैदिक धर्म ने पवित्र मानकर अपवित्र दशा में पृथ्वी को लीप लेने से शुद्धि मानी है। उनका कहना है कि गोबर से जमीन लीप लेने पर पृथ्वी पर के ९ इंच तक के रोगजनक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं जिसस मनुष्य नीरोग रहता है।

जलशुद्धि- अस्पर्श के साथ छुआछूत हो जाने पर ग्लानि को दूर करने के लिये जल से स्नान कर लेने से जो ग्लानि दूर हो जाती है तथा पवित्रता मान ली जाती है उसको जलशुद्धि कहते हैं।

पवनशुद्धि- जमीन, किवाड, पशु, काष्ठादिक, पाषाणादिक को अस्पर्श छू लेवे तो उनकी शुद्धि केवल हवा के लगने से ही मान ली जाती है। जैसे- गाय, भैंस आदि पशु जा रहे हों उनको कभी अस्पर्श शूद्र छू लेवें या अनाज की राशि को छूलेवें तो इन तमाम पदार्थों की शुद्धि हवा स्पर्श से ही मान ली जाती है।

ज्ञानशुद्धि- ज्ञान में जिसकी अशुद्धिता का संकल्प न होवे जैसे मुर्दे को छूकर लोक व्यवहार में स्नान करते हैं। यदि वह मृतक का शरीर रत्नत्रय से पवित्र व्यक्ति का हो तो लोक व्यवहार में उसको अत्यंत पवित्र मानते हैं। तथा जिसकी सेवा करने में बड़े-बड़े ऋद्धिधारी देवादिक भी अपने को धन्य मानते हैं। इसको ज्ञानशुद्धि कहते हैं। इसके फिर भी आचार्यों ने आठ भेद बतलाये हैं-

(१) भावशुद्धि (२) कायशुद्धि (३) विनयशुद्धि (४) ईर्यापथ- शुद्धि (५) भिक्षाशुद्धि (६) प्रतिष्ठापनशुद्धि (७) शय्यासनशुद्धि और (८) वाक्यशुद्धि इनका तात्पर्य इस प्रकार है-

भावशुद्धि- कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न मोक्षमार्ग में रुचि करने से उज्ज्वलता को प्राप्त तथा रागादि विकारों से रहित भावशुद्धि होती है। इसके होते ही आचार प्रकाशरूप होता है। जैसे निर्मल दीवाल पर चित्राम प्रदीप्त होता है, उसी तरह जिसकी रागादिक उपद्रव रहित भावशुद्धि होगी उसी का आचार सुशोभित होगा।

कायशुद्धि- जिसका शरीर वस्त्रादिक आभरण और आभूषणादि रहित है। स्नानविलेपनादि संस्कार रहित है। शरीर पर पसीना से धूल लिपट रहे है। नेत्र, भ्रकुटी, गर्दन, हाथ पैरादि से विकार रहित हैं और जिसकी सब जगह यत्नाचार रूप प्रवृत्ति होती है मानो मूर्तिधारी प्रशमभाव के सुख को ही दिलाती है ऐसी काय की शुद्धता जिससे अन्य जीव को आपसे भय नहीं हो, तथा आप से अन्य जीवों को भय न हो, सो कायशुद्धि है।

विनयशुद्धि- अर्हंतादिक परम गुरुओं में यथायोग्य पूजा स्तवन वंदनादिक में लीन और सम्यग्ज्ञानादि में यथोचित विधि से युक्त और संपूर्ण कार्यों में गुरुओं के अनुकूल प्रवृत्तिकर सहित और प्रश्न स्वाध्याय, वाचना, कथा विज्ञप्ति इत्यादिकों के स्वीकार करने में प्रवीण तथा देश काल भावों का यथावत जानने वाले, ऐसे आचार्यों के अनुकूल आचरण करना सो विनयशुद्धि है! यह संपूर्ण त्रैलोक्य की संपदा की मूल है, विनयशुद्धि ही संसार समुद्र से तारने के लिये जहाज के समान है।

ईर्यापथशुद्धि- नाना प्रकार के जीवों के स्थान तथा जीवों के उत्पत्ति योग्य योनिस्थान और जीवों के रहने के ठिकाने इनके ज्ञान करने से उत्पन्न यत्नाचार से प्राणियों की पीड़ा का परिहार कर जिसमें गमन हो और अपने अंतरंग में ज्ञान का प्रकाश और बाह्य में सूर्य का प्रकाश तथा अपनी नेत्रेन्द्रिय के प्रकाश से देखे हुए क्षेत्र में गमन करना, जिसमें शीघ्र गमन न हो और न विलंब से गमन हो, संभ्रमरूप, विस्मय रूप, क्रीडाविकार दिगंतरावलोकनादि दोष रहित गमन हो सो ईर्यापथशुद्धि है। इसके होने से संयम प्रतिष्ठित होता है। जैसे सुन्दर नीति से विभव प्रतिष्ठित होती है।

भिक्षाशुद्धि- मुनि जब भिक्षा को जावें तब शरीर को आगे पीछे नेत्रों से देखकर है गमन जिसमें, शरीर के अगले पिछले अंग पर पीछी फेरने का है विधान जिसमें तथा आचारांग सूत्र में भिक्षा का जैसा विधान देश काल का बतलाया है उसका है जानना जिसमें, भोजन के लाभ में तथा अलाभ, सन्मान में अपमान में समान है मन की वृत्ति जिसमें, लोकनिंद्य कुल के त्यागने में तत्पर, चंद्रमा गमन की तरह हीन अधिक घर में समान है गमन जिसमें, दीन अनाथों के घर तथा दानशाला विवाह गृहादिक में गमन करने से रहित, दीनवृत्ति रहित, प्रासुक आहार के देखने में सावधान, शास्त्र में कह गये मार्ग के अनुसार आहार के प्राप्त कर प्राणियों की रक्षा करना मात्र ही है फल जिसका, लाभ अलाभ में सुन्दर रसरूप आहार में और विरस आहार में समान है संताप जिसमें ऐसी आगम में भिक्षा कही गई है सो ऐसी भिक्षा का लेना भिक्षाशुद्धि है!

भिक्षा की ५ वृत्तियां होती हैं- गोचरीवृत्ति १ अक्षमृक्षणवृत्ति २ उदराग्निप्रशमनवृत्ति ३ भ्रमराहारवृत्ति ४ गर्तपूरणवृत्ति ५ इस तरह पांच प्रकार की भिक्षावृत्ति होती है। अब इनके लक्षण कहते हैं।

(१) गोचरीवृत्ति- जैसे लीला आभरणादि सहित, अच्छे घास को लाने वाली स्त्री द्वारा लाए हुए घास को गाय चरती है, पर वह गाय उस स्त्री के रूप संपदा आभरणादि के देखने में तत्पर नहीं होती है, वह तो केवल घास चरने में लीन रहती है। उसी तरह साधु भिक्षा के देने वाले मनुष्यों का कोमल ललित रूप, सौंदर्य वेष, विलास देखने में निरुत्सुक होता हुवा शुष्क आहार, जल घृतादि रहित आहार में भेद न विचारते हुए जैसा भी रस नीरस, शीत उष्ण, कठिन कोमल, दाता दे उसको उसी रूप भक्षण करते हैं। इस लिये गौ की तरह जिसमें भक्षण

हो उसको गोचरीवृत्ति कहते हैं।

अक्षमृक्षणवृत्ति- जैसे व्यापारी नाना प्रकार के रत्नों के भार से भरी हुई गाड़ी को तेल से ओंगकर अपने इष्ट प्रदेश को ले जाता है। उसी तरह मुनि गुण रूपी रत्नों से भरी हुई देह रूपी गाड़ी को निर्दोष भिक्षा देकर अपने वांछित समाधिमरण को प्राप्त करते हैं। अर्थात् समाधिमरण पर्यंत ले जाते हैं, सो, अक्षमृक्षण नाम की वृत्ति है। अक्षमृक्षण नाम गाड़ी के ओंगने (वांगने) का है।

उदराग्निप्रशमनवृत्ति- जैसे भंडार में लगी हुई अग्नि को जिस किसी प्रकार के जल से गृहस्थी बुझाता है। उसी तरह साधु भी पेट में प्रकुपित हुई भूखरूपी अग्नि को रस नीरस भोजन से बुझाते हैं, उसको उदराग्निप्रशमनवृत्ति कहते हैं।

भ्रमराहारवृत्ति- जैसे भौरा पुष्प को बाधा नहीं पहुंचाता हुआ पुष्प की गंध को ग्रहण करता है। उसी तरह साधु भी दातार को कुछ भी बाधा नहीं पहुंचाता हुवा आहार ग्रहण करता है सो भ्रमराहार भिक्षा है।

गर्तपूरणवृत्ति- जैसे गृहस्थ अपने घर में हुए खड्ड को पत्थर रेता मिट्टी आदि से भर देता है। उसी तरह साधु भी उदर रूप गड्ढे को रूखा चिकना कोमल कठोर शीत उष्ण जैसा भी दातार से भोजन मिल जाता है उससे उदररूप गड्ढे को भर लेता है इसी को गर्तपूरणवृत्ति कहते हैं।

प्रतिष्ठापनशुद्धि- साधु अपने नख, रोम, नासिकामल, कफ, वीर्य, मूत्र, मलादिक का करें सो देशकाल को जानकर जिस प्रकार से किसी जीव मात्र को बाधा न हों, उसके परिणाम नहीं बिगडें, मार्ग में आने जाने वालों को ग्लानि उत्पन्न न हो ऐसे प्रासुक चौपट रूप भूमि

पर क्षेपण करे सो प्रतिष्ठापनशुद्धि है।

शयनासनशुद्धि- जहां स्त्रियों का आना जाना हो, नीच पुरूष खड़े रहते हों, चोर शराबी शिकारी कुकर्मादि करने वाले हों तथा श्रृंगार के विकार शरीर के विकार सहित उज्ज्वल वेश को धारण करने वाली वेश्या कुलटादिक जहां हों, क्रीडा सामग्री सहित गीत नृत्य वादित्रादि से व्याप्त ऐसे स्थानों का दूर से ही त्याग करें, तिर्यंच, रोगी पुरुष, मार्ग में आने जाने वालों के स्थान को छोड़कर, अकृत्रिम गुफा, वृक्षों के कोटरादि, तथा कृत्रिम शून्य गृहादिक, अपने लिये नहीं बनाये गये ऐसे जंतु की बाधा रहित प्रासुक स्थानों में, वन के प्रदेश, पर्वतों की शिखर बालू के टीवा इत्यादिक निर्दोष स्थानों में शयनासन करै सो शयनासनशुद्धि है।

वाक्यशुद्धि- वाक्यशुद्धि का धारक साधु ऐसे वचन बोले जिनसे पृथ्वीकायादिक छह काय के जीवों की बाधा उत्पन्न न हो, पृथ्वी आदि के आरंभ की प्रेरणा न हो, जो वचन कठोर निष्ठुर पर को पीडा पहुंचाने वाला न हो, जिस वचन से मिथ्यात्व असंयमादिक न हो जावें, जो राग द्वेष मोह के नाश करने में तत्पर हों, व्रतशील उपदेशादिक जिसके प्रधान फल हों पर सांसारिक फल नहीं हों, जो आपापर का हित रूप हो, प्रमाणीक अल्प अक्षर रूप हो मधुर हों, मनोहर हों संयमी के योग्य हों ऐसे वचन का उच्चारण करना सो वाक्यशुद्धि है।

इस प्रकार इन शुद्धियों से मन में तो पवित्रता आ जाती है पर इस शरीर में पवित्रता नहीं आती है। देखिये इस शरीर के कारण केवडा, चंदन, इतर तेलादिक सुगंधित पदार्थ भी ग्लानिप्रद हो जाते हैं।

कवित्त

प्याजकी गांठ हजारन बारहिं कंचन थालमें धोय बहाई।
केशरके पुट बीस देकर चंदन रूखकी छांय सुखाई॥
बेलकली में लपेट घरी पर आखिर वासवोही फिर आई।
ऐसी ही नीच कुलीन की सोबत टेव जाई पर कुटेव न जाई॥

इससे विचार तो करो, ऐसे अपवित्र शरीर को धर्म में लगाकर अपना आत्मकल्याण क्यों नहीं करना चाहिये? ऐसा ही उपदेश सिद्धांत शास्त्रों में भगवान तीर्थंकर, गणधर देव परंपरागत आचार्यों ने दिया है। उसको आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

ये आठ प्रकार की लौकिक शुद्धि हैं। सो ये शुद्धियां शरीर को पवित्र नहीं कर सकती हैं। क्योंकि शरीर अन्य पवित्र करने वाले जलादि को भी अपवित्र करने वाला है। शरीर का आदि कारण तो महा अपवित्र माता का रुधिर पिता का वीर्य है और उत्तर कारण आहार का परिणमनादिक है। मनुष्य और तिर्यंचों के कवलाहार है सो ग्रहण होते ही कफ के स्थान को पाकर अतिद्रव रूप होकर अधिक अपवित्र हो जाता है। पीछे पित्ताशय को प्राप्त होकर पचकर महा अपवित्र हो जाता है। वह पचा हुआ वाताशय को पाकर वायु के द्वारा खल रस भाव के भेद रूप हो जाता है। मलमूत्रादिक तो खल भाग रूप हैं। रुधिर मांस भेदा मज्जा वीर्य ये रस भाग हैं। इन समस्त अशुचि पदार्थों का कारण एकमात्र शरीर है। इस शरीर की अपवित्रता दूर करने को कुंकुम चंदन कर्पूरादिक के अनुलेपन तथा स्नानादिक समर्थ नहीं हैं। अंगार की तरह आपके आश्रित द्रव्यों को शीघ्र ही अपने स्वभाव की तरह अपवित्र करता है। इस प्रकार देह को अपवित्र देखकर भी ये मनुष्य उसमें प्रेम करता है, मानो पहिले कभी

ऐसा शरीर पाया ही नहीं है। इसी विचार से शरीर का आदर करता है, उसकी सेवा करता है यही बड़ा अज्ञान है। इसलिये जो भव्य पुरुष परदेह जो स्त्री आदिक की देह उससे विरक्त होता हुवा अपने देह में भी प्रेम नहीं करता है उसके अशुचि भावना होती है। इस प्रकार के स्मरण करने वाले के शरीर से वैराग्य होता है और तभी संसार समुद्र से तरने का प्रयत्न करता है।

आस्रवभावना

जीव-पोतो भवाम्भोधौ, मिथ्यात्वादिक-रन्ध्रवान् ।
आस्रवति विनाशार्थं, कर्माम्भः प्रचुरं भ्रमात् ॥447॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका' (अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक 51)]

अर्थ- मिथ्यात्वादिरूप छिद्रवाला यह जीवरूपी नौका संसाररूपी समुद्र में अनादिकाल से पड़ा हुवा है। यह अपने विनाश का अनुभव नहीं करता हुवा कर्मरूपी जाल को मोह (मिथ्यात्व) के आधीन होकर रात दिन खींचता रहता है, जिसका एक समय भी ऐसा नहीं जो कर्मों के आस्रव से वंचित हो।

कोई खरा कोई बुरा नहिं, वस्तु विविध स्वभाव है।
तू वृथा विकलप ठान उर में करत राग उपाव है।।
यूँ भाव आस्रव बनत तू ही द्रव्य आस्रव सुन कथा।
तुझ हेतु से पुद्गल करम बन निमित्त हो देते व्यथा॥७॥

[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

मणवयणकायजोया, जीवपयेसाणफंद विसेसा ।
मोहोदएणा जुत्ता, विजुदा वि य आसवा होंति ॥८८॥

[श्री स्वामी कार्तिकेय विरचित 'श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा']

अर्थ- मन वचन काय का निमित्त पाकर जीव के प्रदेशों का चंचल होना सो योग है और जो योग है वही आस्रव है। वह आस्रव गुणस्थान की परंपरा में सूक्ष्मसांपराय नामक दशमें गुणस्थान तक तो मोह के उदयरूप यथासंभव मिथ्यात्व कषाय सहित होता है ऐसे आस्रव को सांपरायिक आस्रव कहते हैं। दशमें गुणस्थान के ऊपर तेरहवें गुणस्थान तक मोहोदय से रहित हैं। ऐसे आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। जो पुद्गलवर्गणा कर्मरूप परिणमती हैं उनको द्रव्य आस्रव कहते हैं, जीव के प्रदेशों के चंचल होने को भाव आस्रव कहते हैं। कर्मबंध के कारण को आस्रव कहते हैं आस्रव के पांच कारण माने गये हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमें से स्थिति अनुभाग रूप बंध के कारण मिथ्यात्वादिक चार ही हैं सो ये चारों मोहकर्म के उदय से होते हैं। योग समयमात्र बंध को करने वाले हैं, स्थिति अनुभाग करने वाले नहीं हैं। इससे बंध के होने में इसकी प्रधानता नहीं हैं। पुण्य पाप के भेद से कर्म दो प्रकार का है। इस प्रकार के भेद का कारण भी दो प्रकार का है एक प्रशस्त दूसरा अप्रशस्त मंदकषाय रूप परिणाम को प्रशस्त कहते हैं और तीव्र कषाय रूप परिणाम को अप्रशस्त कहते हैं। प्रशस्त तो शुभ हैं और अप्रशस्त अशुभ हैं। भाव ये है कि सातावेदनीय शुभायु, शुभनाम,शुभगोत्र ये तो पुण्यकर्म हैं। और असातावेदनीय, अशुभायु, अशुभनाम और अशुभगोत्र ये पापकर्म हैं। इनका कारण आस्रव भी दो प्रकार का है- मंदकषाय रूप परिणाम तो पुण्य आस्रव है और तीव्रकषाय रूप परिणाम पाप आस्रव है। मंदकषाय के परिणाम जैसे शत्रु मित्र आदि सभी जगह हितमित प्रियवचन और दुर्वचन सुनकर भी दुर्जन में भी क्षमा धारण करना, सब जीवों के गुण ही ग्रहण करना ये मंदकषाय के परिणाम हैं। तथा अपनी तो प्रशंसा करना

और पूज्य पुरुषों के भी दोष ग्रहण करने का स्वभाव रखना, बहुत समय तक बैर भाव धारण करना ऐसे परिणाम तीव्र कषाय के चिन्ह हैं। सो आस्रव भावना में ऐसा चिंतन करना कि मिथ्यात्वादि पांच, कर्मों के आस्रव के कारण हैं। आस्रव ही संसार परिभ्रमण का कारण है तथा आत्मा के गुणों का घातक है। जीव इन्द्रियों के आताप से महा दुख भोगता है। मोह के उदय से होनेवाले जीव के परिणाम ही आस्रव कहलाते हैं। इन मिथ्यात्वादिक आस्रव भावों से पुण्य पाप रूप कर्मों का आगमन होता है। वही संसार में परिभ्रमण कराता है। इस प्रकार आस्रवों के दोषों का चिंतवन करना सो आस्रव भावना है। आस्रव भावना का चिंतवन करने वाले भव्य की उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म में दृढ़ बुद्धि होती है जिससे आस्रव के निरोध में यत्न करता है।

अथ संवर भावना निरूपण-

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र, संवरो भवति ध्रुवम् ।
साक्षादेतदनुष्ठानं, मनोवाक्कायसंवृत्तिः ॥448॥
[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका' (अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक 52)]

अर्थः हे आत्मन तू यह निश्चय कर कि मन वचन काय की क्रिया के रोक देने से आत्मा में आते हुए कर्म रुक जाते हैं इसी को संवर कहते हैं यह संवर मोक्ष प्राप्ति का कारण है।

तन भोग जगत सरूप लख डर भविक गुरु शरणा लिया।
सुन धर्म धारा भर्म गारा हर्षि रुचि सन्मुख भया।।
इन्द्री अनिन्द्री दाबि लीनी त्रस रु थावर बध तजा।

तब कर्म आस्रव द्वार रोकै ध्यान निज में जा सजा।।८।।

[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

सम्मत्तं देसवयं, महव्वयं तह जओ कसायाणां ।
एदे संवरणामा, जोगाभावो तहा चेव ॥95॥

[श्री स्वामी कार्तिकेय विरचित 'श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा']

अर्थ ः सम्यक्त्व, देशव्रत महाव्रत तथा कषाय का निग्रह, योगों का निरोध ये सब संवर के ही काम हैं। पहिले आस्रव, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इस प्रकार पांच प्रकार का कहा गया है, उनको अनुक्रम से रोकना ही संवर है वह इस प्रकार कि- मिथ्यात्व का अभाव तो चतुर्थ गुणस्थान में हो जाता है इसलिये वहां मिथ्यात्व का संवर हुवा। अविरति का अभाव एकदेश तो देशविरति नामा पांचवें गुणस्थान में और सर्वथा विरति प्रमत्तविरत नामक छट्ठे गुणस्थान में हुआ, इसलिए यहां अविरति का संवर हो जाता है। अप्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद का अभाव हो जाता है। इसलिये सातवें गुणस्थान में प्रमाद का संवर हो जाता है। बारहवें गुणस्थान में कषाय का अभाव हो जाता है इसलिये यहां कषाय का संवर हो जाता है। अयोगि गुणस्थान में योगों का अभाव हो जाता है इसलिये यहां योगों का संवर हो जाता है। इस प्रकार संवर का क्रम है। मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना ऐसी पांच समिति, उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म, अनित्यादि बारह भावनाएं, क्षुधा तृषा आदि बाईस परीषहों का जीतना, सामायिकादि पांच प्रकार का उत्कृष्ट चारित्र ये सब विशेष रूप से संवर के कारण हैं। इनमें से योगों का निरोध करना तो गुप्ति है। प्रमाद का त्यागकर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना सो समिति है।

जिसमें दया की प्रधानता हो सो धर्म है। जीवादि तत्त्व तथा निजस्वरूप का चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षा है। अत्यंत भयंकर रौद्र परिणति को पैदा करने वाले क्षुधादि का जीतना सो परीषहजय है। आत्मस्वरूप वस्तु का विचार करते हुए रागादि दोषरहित धर्म शुक्ल ध्यान में लीन होना सो उत्तम चारित्र है। जो मनुष्य इन संवर के कारणों का आचरण नहीं करता है सो दुःखों से तप्तायमान होकर बहुत समय तक संसार में भ्रमण करता है। इसलिये जो मुनि इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर मन के प्रिय विषयों में हमेशा आत्मा को निश्चय से संवर रूप करता है उसके नियम से संवर होता है। इस प्रकार के चिन्तवन को संवर भावना कहते हैं। संवर में आत्मस्वरूप का चिंतवन होता है इसलिये हे आत्मन सबसे पहिले आत्मस्वरूप के विचार में ठहरने की कोशिश कर आत्मा का स्वरूप शुद्ध बुद्ध चित् चमत्कार रूप अपने ही शरीर में विराजमान है। वही बतलाने को बतलाया गया है-

परमानन्द-संयुक्तं, निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥१॥

[श्री अकलंक देव कृत 'परमानंद स्तोत्र']

अर्थ- परमानंद सहित, रागादि विकारों से रहित, ज्वरादिक रोगों से मुक्त, निश्चयनय से अपने शरीर में ही विराजमान परमात्मा को ध्यान हीन पुरुष नहीं देख पाते। फिर कैसा है यह आत्मा-

निर्विकारं निराबाधं, सर्वसंग-विवर्जितम्।
परमानन्द-सम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ।।३।।

[श्री अकलंक देव कृत 'परमानंद स्तोत्र']

अर्थ- रागादिक विकारों से रहित, अनेक प्रकार की सांसारिक बाधाओं से दूर, संपूर्ण परिग्रहों से शून्य, परमानंद विशिष्ट, शुद्ध केवल ज्ञान रूप, चैतन्य परमात्मा का लक्षण जानना चाहिये। आगे-

तीर्थ दिवालय देव ना देह दिवालय देव।
जिन वाणी गुरु यों कहो निश्चय जानो एव॥41॥

[मुन्शी नाथूराम जी कृत योगसार (योगिन्दु देव) पद्यानुवाद 'स्वानुभव दर्पण']

दर्पण कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जब तक यह जीवात्मा अपने आत्मा को शुद्ध बुद्ध चिदानंद स्वरूप समझकर उसमें रमण नहीं करता है, तब तक कितना ही ज्ञान प्राप्त कर लेवे उससे कुछ नहीं होगा। स्वात्मानुभव बिना यथार्थ आत्म श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नहीं होता। वही बात बतलाई है-

ग्यारह अंग पढै नव पूरव, मिथ्या वल जिय करहिं बखान ।
दे उपदेश भव्य समुझावत, ते पावत पदवी निर्वान ।।
अपने उरमें मोह गहलता, नहिं उपजै सत्यारथ ज्ञान ।
ऐसे दरवश्रुतके पाठी, फिरहिं जगत भाखें भगवान ॥ ११ ॥

[भैया भगवतीदास जी कृत 'आश्चर्य चतुर्दशी' (ब्रह्म विलास)]

इसलिये हे भव्यो यदि संवर करना चाहते हो तो पं॰ दौलतरामजी के कहे अनुसार आचरण करो-

शम-दमतैं जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये।

[पण्डित प्रवर दौलतराम जी विरचित 'छहढाला'- तीसरी ढाल , छंद 9]

अर्थात्- कषाय के उपशम करने और इन्द्रियों को वश में करने से जो आते हुए कर्मों का रुक जाना सो संवर है कहने का तात्पर्य ये है कि

कषाय और इन्द्रियां जीव के साथ नवीन कर्मों के बंध होने में कारण हैं। क्योंकि संसारी जीव इन्हीं के वश में रहकर निज कर्तव्य को भूले हुए हैं। कषाय और इन्द्रियों का जय ही करना चाहिये। यही इसका कर्तव्य है। यदि अपने कर्तव्य को यह जीव करने लग जाय तो फिर संसार का अन्त बिलकुल निकट समझना चाहिये। संवर करना ही संसारी का कर्तव्य होना चाहिये, संवर से मोक्ष का मार्ग मिलता है। इस प्रकार के चिंतवन करने को संवर भावना कहते हैं।

अथ निर्जरा भावना-

निर्जरा शातनं प्रोक्ता, पूर्वोपार्जितकर्मणाम् ।
तपोभिर्बहुभिः सा स्यात्, वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥449॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका' (अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक 53)]

अर्थ- अनादि काल से यह जीव संसार रूपी चक्र में फँसकर तीन लोक में अरहट की घड़ी के समान घूम घूम कर कर्मों का हर समय बंध करता रहता है, और समय पूर्ण होने पर छोड़ता रहता है। जो कर्म अपनी अवधि पूरी करके आत्मा से संबंध छोड़ते हैं, उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा से जीव का कुछ भी भला नहीं होता है। ऐसी निर्जरा तो संसारी जीवों के हमेशा होती रहती है। तप आदि के निमित्त से जो कर्म असमय में सम्बन्ध छोड़कर अलग हो जाते हैं उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा ही कार्यकारी होती है। क्योंकि ऐसी निर्जरा से आत्मा के साथ नवीन कर्मों का संबंध नहीं होता है छहढाला में कहा गया है कि-

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज-काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥11॥

[पण्डित प्रवर दौलतराम जी विरचित 'छहढाला'- पाँचवी ढाल , छंद 11]

बुधजनजी ने कहा है कि-

तज शल्य तीनों बरत लीनो बाह्याभ्यंतर तप तपा।
उपसर्ग सुर-नर-जड़-पशु-कृत सहा निज आतम जपा।।
तब कर्म रस बिन होन लागे, द्रव्य-भावन निर्जरा।
सब कर्म हरकै मोक्ष वरकै रहत चेतन ऊजरा ।।९।।

[श्री बुधजन जी कृत 'बारह भावना']

पूर्वोपार्जित जो कर्मों का संचय था उन कर्मों में से धीरे धीरे कर्मों का नाश होना निर्जरा है। निर्जरा नाना प्रकार के तप करने से तथा राग द्वेष के त्याग करने से, इन्द्रियों के दमन करने से, वैराग्यरूप परिणमन करने से होती है। अन्यथा पदार्थ के स्वरूप के समझने में मस्त रहकर ऐसा ख्याल करना कि हमें तो तत्त्वज्ञान हो गया इसलिये राग द्वेषादि त्यागने रूप आचरण करने से क्या लाभ है? ऐसे आचरण से कभी निर्जरा नहीं हो सकती है। केवल तत्त्वज्ञान कर लेने से निर्जरा नहीं होती है किन्तु ज्ञान के अनुसार आचरण करने से निर्जरा होती है। ठीक है- तत्त्वज्ञान में मस्त रहने से दर्शनमोह सरीखे कर्मों का बंध नहीं होगा परंतु आगामी चतुर्थ गुणस्थान के ऊपर जितने भी शुद्ध या शुद्ध भाव रूप परिणाम कहे गये हैं वे सब निर्जरा के बाद राग द्वेष के मन्द करने के ही कारण हैं। न कि केवल पदार्थ का स्वरूप विचारना ही कारण है। यही बात बतलाई जाती है कि स्वरूप विचारने लायक योग्यता होने पर ही आत्मा अपने स्वरूप की तरफ झुकता है। ऐसी योग्यता विरोधी कर्म के अभाव हुए बिना होती

नहीं है। निर्जरा होने को तो चारित्र प्रधान कारण है, क्योंकि चारित्र का लक्षण बतलाया है कि संसार की कारण रूप बाह्य आभ्यन्तर क्रियाओं का रोकना ही चारित्र है। बाह्य क्रियाएं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह हैं। आभ्यन्तर क्रियाएं क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष मोह का करना है। संसार में भ्रमानेवाली यही क्रियाएं है इनका रोकना दो तरह से होता है एक मोटे रूप से दूसरे सर्वथा। गृहस्थ तो मोटे रूप से त्याग करता है पर साधु सर्वथा स्याग देते हैं। इनके त्याग से ही कर्मों की निर्जरा होती है। जो सम्यग्ज्ञानी अहंकार मद रहित हुवा निदान रहित वीतराग भावना से तप करता है उसके कर्मों की भारी निर्जरा होती है। सम्पूर्ण कर्मों की शक्ति का उदय होना सो अनुभव है वही कर्म के रस का अनुभव है। रस देने के बाद नियम से कर्म झड़ जाते हैं सो ही सिद्धान्त में कहा गया है विपाकोऽनुभवः' ' ततश्च निर्जरा' वह निर्जरा संसारी जीवों के चारों ही गतियों में समय पाकर के होती है ऐसी निर्जरा का नाम ही सविपाक निर्जरा है।

और तप व्रत संयम के प्रभाव से जो निर्जरा होती है वह अविपाक निर्जरा है। जैसी जैसी संयमियों के उपशम भाव की तप की वृद्धि होती जाती है वैसी वैसी निर्जरा की वृद्धि होती जाती है। जो साधु कषायों का निग्रह करके दुष्टों के द्वारा किये गये अनेक प्रकार के घोर उपसर्ग को सहन करते हैं, शरीर को विनाशीक जड़ स्वभाव जान कर अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव को अखण्ड अविनाशी अनुभव करते हुए संक्लेश रहित मन और इन्द्रियों का निग्रह करके अपने स्वरूप में लीन होते हैं उनके परम निर्जरा होती है। निर्जरा ही मोक्ष का कारण है। ऐसा चिन्तवन करने से बड़ी निर्जरा जानकर भावना करनी उचित है। इति निर्जरा भावना॥

अब लोकभावना कहते हैं-

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र, साऽपायस्थितिरध्रुवः ।
दुःखकारीति कर्तव्या, मोक्ष एव मतिः सताम् ॥450॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका' (अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक 54)]

अर्थ- हे संसारी भव्यो! जिसको आप लोग देख रहे हो वही तो लोक है। इसी में सब तरह के कर्मों के खेल हो रहे हैं। इसी में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों की स्थिति है। यह लोक ३४३ घनाकार राजू प्रमाण है। इसकी आधे मृदंग के ऊपर एक मृदंग के रखने से जो शकल बनती है उसी प्रकार की शकल है अर्थात् पुरुषाकार है, यह चौदह राजू ऊंचा और ७ राजू लम्बा चौड़ा तथा पूर्व पश्चिम सर्वत्र मोटा है। इसकी यथावत् रचना जानना हो तो त्रिलोकसार और त्रिलोकप्रज्ञप्ति का स्वाध्याय करो, यह लोक महा दुखकारी है। इसमें चार गति और उनमें ८४ लाख जीवों के उत्पन्न होने की योनियां हैं। यह लोक दुःख का ही घर है, इसलिए आपको मोक्ष प्राप्त करने में ही अपने उपयोग को लगाना चाहिए।

मंगतराय जी अपनी बारह भावना में लिखते हैं-

लोक अलोक अकाश माँहि थिर, निराधार जानो।
पुरूष रूप कर कटी भये षट् द्रव्यन सों मानो।
इसका कोई न करता हरता, अमिट अनादी है।
जीव रू पुद्गल नाचे यामैं, कर्म उपाधी है ॥२२॥
पाप पुण्य सों जीव जगत में, नित सुख दुःख भरता।
अपनी करनी आप भरै सिर औरन के धरता।

मोह कर्म को नाश मेटकर, सब जग की आसा ।
निज पद में थिर होय लोक के, शीश करो वासा ॥२३॥

[श्री मंगतराय जी कृत 'बारह भावना']

लोकभावना में ऐसा विचार करना चाहिए कि सर्व तरफ अनन्तानन्त क्षेत्र रूप आकाश द्रव्य है। उसके अत्यंत मध्य में छह द्रव्यों का समुदाय रूप लोक है। सो लोक चौदह राजू ऊंचा है। और दक्षिण उत्तर नीचे ऊपर मध्य में सब जगह सात राजू मोटा है। पूर्व पश्चिम में नीचे तो सात राजू है पीछे ऊपर अनुक्रम से घटकर सात राजू की उंचाई पर चौड़ाई मध्य लोक में एक राजू है। फिर अनुक्रम से घटकर साढ़े दस राजू की ऊंचाई पर पांच राजू चौडाई है। फिर चौदह राज ऊंचाई पर लोक के अंत में चौडाई एक राजू है। इस प्रकार लोक का पूर्व पश्चिम का विस्तार है। इस लोक के मध्य में एक राजू लम्बी एक ही राजू चौड़ी चौकोर चौदह राजू ऊंची लोक के नीचे वातवलय के अंत से ऊपर लोक के अंत पर्यंत त्रसनाली है। त्रस जीव इस त्रसनाली में ही हैं। नरक, भुवनलोक, मध्यलोक, व्यंतरलोक, तिर्यग्लोक, ज्योतिर्लोक, स्वर्गलोक, मुक्तिस्थान ये सब त्रस नाली में ही हैं। त्रसनाली के बाहर उपपाद, मारणांतिक और समुद्धात के बिना त्रस का गमन नहीं है। स्थावर जीव संपूर्ण लोक में पाये जाते हैं। विकलत्रय जीव तथा असंज्ञी पंचेद्रिय तिर्यंच कर्मभूमि एकसौ सत्तर क्षेत्र में हैं। और अंत के स्वयंभूरमण द्वीप के अर्धभाग में, समस्त स्वयंभूरमण समुद्र में और उसके बाहर च्यारों कोनों में ही हैं। बाकी के संपूर्ण असंख्यात द्वीप समुद्रों में नहीं हैं। ऊर्ध्वलोक अधोलोक में भी विकलचतुष्क नहीं हैं। मनुष्य अढाई द्वीप में ही हैं। अढाई द्वीप के बाहर आधा स्वयंभूरमण द्वीप पर्यन्त हेमवत क्षेत्र की जघन्य

भोगभूमि के तिर्यंचों समान पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हैं। लवणोदधि कालोदधि और अंत के स्वयंभूरमण समुद्र इन तीन समुद्र में ही जलचर जीव हैं। अन्य असंख्यात द्वीपों में नहीं हैं। संपूर्ण रचना जाननी हो तो राजवार्तिक सर्वार्थसिद्धि अर्थप्रकाश का स्वाध्याय करो। इस लोक के अन्त में नीचे ऊपर मध्य में सर्वत्र तीन तरह की वायु फैली हुई है। तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण आकाश रूप क्षेत्र के संपूर्ण प्रदेशों में तिल में तेल की तरह धर्मद्रव्य के और अधर्मद्रव्य के असंख्यात प्रदेश व्याप्त हो रहे हैं। और उस ही असंख्यात प्रदेश रूप लोकाकाश में अनंतानंत जीवद्रव्य पाये जाते हैं। और इसमें जीवराशि से अनंतानंत गुणे पुद्गल मौजूद हैं। इस लोक के ही असंख्यात प्रदेशों में अलग-अलग एक- एक भिन्न रूप से कालद्रव्य ठहरे हुए हैं। इस प्रकार छहों द्रव्यों का समुदाय रूप लोकाकाश में ये जीव अनंतानंत काल से मिथ्यात्व के वश में परद्रव्यों को अपना मानकर परिभ्रमण करता है। पुद्गल जनित पर्याय में ही अहंकार मान रहा है। जिससे भिन्न भिन्न जाति के नाना प्रकार के कर्मों का नवीन-नवीन बंध करता है, उससे चारों गतियों में नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है और जबतक अपने स्वरूप के संमुख नहीं होता है, परद्रव्यों में आपा मान उनमें ही उलझा रहेगा तब तक इस संसार से निकल नहीं सकता है। इस प्रकार का चिंतवन करना लोक भावना है। ऐसी लोकभावना का चिंतवन करने से संपूर्ण द्रव्यों के भिन्न भिन्न गुण पर्यायों के स्वभाव जानने से जीव द्रव्य का स्वभाव भी जाना जाता हैं। उन जीव द्रव्यों में अपना आत्मा भी है सो उसका निश्चय कर दूसरे में जो उलझन होती है उस उलझन से अपने को निकालकर मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

बोधि दुर्लभ भावना निरुपण-

रत्नत्रयपरिप्राप्तिः, बोधिः साऽतीव दुर्लभा ।
लब्धा कथं कथंचिच्चेत्, कार्यो यत्नो महानिह ॥451॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका' (अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक 55)]

अर्थः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों रत्नत्रय कहे जाते हैं। जैसे लोक में रत्न के प्राप्त हो जाने से लोग सुखी हो जाते हैं, उनकी इज्जत होने लगती है, लोग आदर की दृष्टि से देखने लगते हैं उसी प्रकार इन तीनों रत्नों की प्राप्ति हो जाने पर यह जीव तीन लोक में महान हो जाता है। उसकी मान्यता होने लगती है। तीनों लोकों के महर्द्धिक जीव उसकी इज्जत प्रतिष्ठा और पूजा करने लगते हैं। परंतु जैसे रत्न की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है, हर एक व्यक्ति को नहीं मिल सकती है) महान पुण्याधिकारी को ही मिलती है, उसी तरह जिस जीव का संसार निकट आ जाता है, जिसकी काल लब्धि पक जाती है, तथा जिसका पुण्य अतिशय को प्राप्त हो गया हो, उसी को इस रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति किसी किसी प्रकार होती है। इसकी प्राप्ति के लिये महान प्रयत्न करना चाहिये। कविवर मंगतरायजी ने कहा है-

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरू त्रस गति पानी ।
नर काया को सुरपति तरसे, सो दुर्लभ प्राणी ॥
उत्तम देस सुसंगति दुर्लभ, श्रावक कुल पाना ।
दुर्लभ सम्यक् दुर्लभ संयम, पंचम गुण ठाना ॥२४॥

[श्री मंगतराय जी कृत 'बारह भावना']

दुर्लभ रत्नत्रय आराधन, दीक्षा का धरना ।
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन, शुद्ध भाव करना ॥
दुर्लभ तैं दुर्लभ है चेतन, बोधि ज्ञान पावै ॥
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर, इस भव में आवै ॥२५ ॥

[श्री मंगतराय जी कृत 'बारह भावना']

इसका भाव ये है कि एक निगोद शरीर में अतीत काल से सिद्धों से अनंतगुणे जीव हैं। ऐसे निगोद शरीरों से तथा पांच प्रकार के स्थावर जीवों से समस्त लोक खूब खचाखच भरा हुआ है। उनमें से त्रस पर्याय का पाना वालुका समुद्र में हीरा की कणिका की तरह अत्यंत दुर्लभ है त्रसों में ही कभी महान पुण्यकर्म का उदय आ जाय तो द्वीन्द्रिय में लट की पर्याय मिल जाय, यहां से ही त्रसकायिक जीव की मर्यादा दो हजार साधिक सागर काल मानी है। इतना समय बीत जाने बाद ऐसा नियम नहीं है कि आगे त्रीन्द्रियादि जीवों में जन्म लेते लेते उत्तम मनुष्य पर्याय को ही पा जाता है। पापकर्म का उदय आ जावे तो फिर एकेन्द्रिय के शरीर में जन्म धारण कर लेवे त्रसजीवों में भी विकलत्रय जीवों की बहुलता है इसलिये पंचेन्द्रियपना पाना अत्यंत दुर्लभ है, जैसे गुणवंतों में कृतज्ञता का मिलना अत्यंत दुर्लभ है। कदाचित् पंचेंद्रिय भी हो जावें तो उनमें पशु सिंह व्याघ्र मृग पक्षी सर्पादिकों की बहुत सी पर्यायों में जाकर उत्पन्न हो जावे, जैसे चौराहे में रत्नराशि का पाना अत्यंत दुर्लभ है उसी तरह मनुष्यपना पाना अत्यंत दुर्लभ है। अगर मनुष्यपना पाकर छूट जाय तो फिर से मनुष्य होना ऐसा दुर्लभ है जैसे जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का वृक्ष रूप होना अत्यन्त दुर्लभ है। कभी मनुष्यपना भी पा जावे तो हित- अहित का विचार रहित पशुओं के समान मनुष्यों से भरा कुदेश बहुत हैं, इसलिये पत्थरों में मणि की तरह उत्तम देश पाना अत्यंत दुर्लभ है।

कभी उत्तम देश भी पा जावे तो पापकर्म में लीन ऐसे कुकर्म के करने वाले कुल बहुत हैं उनमें जन्म ले लेवे और शील विनय संयमादिकों को धारण करने वाले कुल बहुत कम हैं। उनमें जन्म नहीं पावें! अगर कुल भी उत्तम पा जावे और थोड़ी सी उमर में मर जाय तो ये सब सामग्री निष्फल हो जाती है। अगर दीर्घायु भी हो जावे तो इन्द्रियों की परिपूर्णता दुर्लभ है। यदि इन्द्रिय सामग्री भी पा जाय तो बल रूप नीरोगपना पाना दुर्लभ है। अगर सभी चीजें मिल जावें और समीचीन धर्म का ग्रहण नहीं हुआ तो नेत्र रहित मुख की तरह व्यर्थ है ये धर्म का पाना ही अति कठिन है। धर्म को प्राप्त करके भी जो विषयों के सुख में रंजायमान हो जावे तो मानों भस्म के लिये चंदन को जलाता है। जो विषय सुख से विरक्त न हो उसकी तप की भावना, धर्म की प्रभावना, तथा संक्लेश रहित सुखरूप समाधि मरण की भावना नहीं होती है। समाधि मरण के होने पर ही बोधि का लाभ होना फलवान होता है। इस प्रकार का चिंतवन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

अब धर्मभावना का कथन लिखा जाता है-

जिनधर्मोऽयमत्यन्तं, दुर्लभो भविनां मतः ।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥452॥

[आचार्य श्री पद्मनंदी विरचित 'पद्मनंदी-पंचविन्शतिका'
(अध्याय ६- उपासकसंस्कार- श्लोक 56)]

अर्थ- हे भव्य पुरुषों, संसार में सब पदार्थों का मिलना सुलभ है लेकिन जिनेन्द्रदेव द्वारा बतलाया हुवा धर्म का मिलना अत्यंत दुर्लभ है। धर्म तो वही ग्रहण करना चाहिये जो मोक्ष प्राप्ति तक साथ देवे। अर्थात् जिसके धारण करने से जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म है।

प्रश्न- आपने कहा है कि जिनदेव द्वारा बतलाया धर्म धारण करना चाहिये सो जिनदेव का ही क्यों, दूसरों के द्वारा प्रतिपादित धर्म का धारणा क्यों नहीं?

उत्तर- जिनदेव किसी खास व्यक्ति का नाम नहीं हैं उस महादेव का नाम हैजिसमें नीचे लिखे गुण हों और वे गुण इस प्रकार हैं- कहा है कि-

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम्,
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुलि।
रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो,
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते ।।१।।

[श्री अकलंक देव कृत 'अकलंक स्तोत्र']

अर्थ- जिस प्रकार हर एक मनुष्य तीन पोर सहित हाथ की अंगुलियों को साक्षात प्रत्यक्ष देखता है उसी तरह जो अलोक सहित तीनों लोकों के तमाम पदार्थों को उनके त्रिकालवर्ती गुण पर्यायों सहित एक साथ प्रत्यक्ष देखता- जानता है, और जिसमें राग द्वेष भय रोग बुढापा क्रोध मान माया लोभ चिंता अरति पसेव जन्म मरण विस्मय आदि दोष नहीं हैं। जो तमाम गुणों का खजाना है ऐसा सर्वज्ञ रूप आत्मा महादेव है उसको बड़े बड़े प्रभावशाली जीव बारंबार नमस्कार करते हैं और मैं भी नमस्कार करता हूं। सर्वज्ञ देव का कहा हुवा धर्म ही धर्म है उसी का धारण करना कार्यकारी हो सकता है कहने का तात्पर्य ऐसा है कि- जिस धर्म का स्वरूप कहना है उस धर्म का स्वरूप यथार्थ इन्द्रिय गोचर तो नहीं है वह तो अतीन्द्रिय है। छद्मस्थ के इन्द्रियज्ञान है वह परोक्ष है सो धर्म का स्वरूप छद्मस्थ के ज्ञान-गोचर तो है नहीं इसलिये जो संपूर्ण पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष

देखता है वही धर्म के स्वरूप को भी प्रत्यक्ष देख सकता या जान सकता है। इससे धर्म का स्वरूप सर्वज्ञ के वचन से निकला ही प्रमाण हो सकता है, छद्मस्थ का कहा हुवा प्रमाण नहीं हो सकता है। छद्मस्थ का कहा हुवा धर्म भी तब प्रमाण हो सकता है जब वह सर्वज्ञ के वचनों की परंपरा में कहा गया हो। इसलिये धर्म के स्वरूप के वर्णन करने के पहिले सर्वज्ञ का स्थापन करना आवश्यक है।

प्रश्न- सर्वज्ञ तो संसार में कोई दीखता नहीं, सर्वज्ञ-सर्वज्ञ कहना व्यर्थ है?

उत्तर- हे सर्वज्ञ के अभाववादी! तू कहता है कि संसार में सर्वज्ञ कोई नहीं है सो ऐसा तेरा कहना प्रत्यक्ष विरोध रूप है। क्योंकि संसार में जितने सिद्धांतवादी हैं वे सब सूक्ष्म स्थूल, दूरवर्ती समीपवर्ती, परोक्ष प्रत्यक्ष को मानते हैं। यदि सर्वज्ञ नहीं हैं तो जो पदार्थ इन्द्रिय गोचर नहीं हैं। ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थों को कौन जानता है? इन्द्रियज्ञान तो स्थूल पदार्थ, इन्द्रियों से संबद्ध रूप वर्तमान में हो उसी को जानता है, उसकी भी समस्त पर्यायों को नहीं जानता है। धर्म और अधर्म का फल तो अतीन्द्रिय हैं उसको सर्वज्ञ के बिना कौन जान सकता है? इसलिये धर्म अधर्म के फल को चाहने वाले पुरुष सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार कर उसके वचन से धर्म के स्वरूप का निश्चय कर स्वीकार करें। सर्वज्ञदेव धर्म का लक्षण वस्तु स्वभाव बतलाया है।

अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है क्योंकि राग द्वेष मोहादिक पर द्रव्य के उदय रूप मल से रहित अपना निर्विकार ज्ञानदर्शन रूप होना सो धर्म है। अपने स्वरूप के बाहर दिशा विदिशा में आकाश में पाताल में नदी में समुद्र में पहाड़ में मंदिर में प्रतिमा में शास्त्रादिक में धर्म नहीं रक्खा है। द्रव्य खर्चने से मोल नहीं आता है, किसी के द्वारा

दिया हुवा नहीं आता है। देहादिक के बल के आधीन व नाना प्रकार के वेष धारण करने के अधीन नहीं है। ए तो समस्त क्रिया काण्डादिक बाह्य निमित्तमात्र हैं जो आत्मा रागादिक परिणति से छूट कर शुद्ध वीतराग रूप ज्ञान परिणति को प्राप्त हो जाता है, वह आत्मा धर्म रूप हो जाता है। जो मंदिर में जाकर भी धन हरण करेगा या किसी स्त्री का हरण करेगा वा अवलोकन करेगा तथा काम सेवन करेगा भोजनादि विकथादि वा हिंसादि आरंभ करेगा वह पापी होगा ये काम मंदिर में नहीं करना चाहिये क्योंकि ये तो धर्मायतन हैं। इनको धर्मायतन जानि केवल धर्म सेवन करेगा उसका कल्याण होगा ये तो धर्म परिणति होने को सहकारी कारण हैं। धर्म रूप तो चेतन ही परिणमेगा, धर्म तो जड़ रूप होगा नहीं। क्योकि ऐसा देखने में आता है कि क्रोध मानादिक जितने हैं वे ज्ञान में मोह जनित विकार हैं, सो ये विकार जब दूर हो जाते हैं तब आत्मा अपने उत्तम क्षमादिक स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, सो वहीं धर्म है। क्योंकि क्रोध विकार रहित आत्मा का उत्तम क्षमा रूप होना और मान कषाय छोड़ मार्दव रूप होना, माया कषाय छोड़ आर्जव रूप होना, लोभ कषाय छोड़ शौच रूप होना, असत्य को छोड़कर सत्य रूप होना, विषयों में प्रवृत्तिरूप असंयम भाव छोड़ संयम के नियम रूप होना, देहादिक परवस्तु में ममत्व छोड़ आकिंचन रूप होना, विषयों में प्रवृत्ति रूप रागभाव छोड़ ब्रह्मरूप आत्मा में चर्या करना, इन समस्त दशलक्षण रूप धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा की दशलक्षण रूप परिणति होती है इसी का नाम धर्म है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र भी आत्मा के ही स्वभाव हैं। श्रद्धान ज्ञान आचरण भी आत्मा की ही परिणति रूप हैं। इसलिए दशलक्षण रूप, रत्नत्रय रूप जीवदया रूप जिन भक्ति रूप आत्मा के हुए बिना अन्य किसी प्रकार धर्म नहीं है।

धर्म ही संसार के दुःख के अभाव करने को कारण है। सो ऐसी परोपकारी धर्म को भगवान अर्हंत देव ने भले प्रकार कहा है। अमितगति श्रावकाचार में कहा है-

निरुपमनिरवद्यशर्ममूलं, हितमभिपूजितमस्तसर्वदोषम् ।
भजति जिननिवेदितं स धर्मं, भवति जनः सुखभाजनं सदा यः॥

[श्री अमितगति - सूरि - विरचित 'अमितगति श्रावकाचार'
चतुर्दशः परिच्छेदः - श्लोक 75]

अर्थ- जिसको किसी दूसरे पदार्थ की उपमा नहीं हो सकती, निर्दोष सुख का कारण, कल्याण करने वाला, सब जीवों का पूज्य, सब दोषों का नाश करने वाला ऐसे जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित धर्म का जो सेवन करता है वह हमेशा को नित्य सुख का स्थान हो जाता है। धर्म ही अत्यन्त दुख देने वाले संसार का नाश करने वाला है। धर्म ही पीड़ा रहित मोक्षस्थान का देनेवाला है। धर्म ही सम्पूर्ण इष्ट पदार्थों का दाता है ऐसा विचार कर पुरुष को मन वचन काय से धर्म का सेवन करना चाहिये । संसार में सब पदार्थ सुलभ हो सकते हैं लेकिन सच्चे धर्म का मिलना बहुत ही कठिन है। उत्तम देश कुल जाति तथा स्वस्थ शरीर धनादि सुख सामग्री के मिलने पर धर्म का सेवन किसी पुण्यात्मा से ही हो सकता है। यद्यपि ये तमाम चीजें पुण्य कर्म के उदय से ही प्राप्त होती हैं और पुण्यकर्म धर्म सेवन करने से ही उपार्जित किया जाता है। पर कर्म का उदय बड़ा ही विचित्र होता है। विभव के होते हुए मद का अभाव होना, गुण से प्रेम होना, धर्मात्माओं से मोह होना, जिनार्चनादि करने का, पात्रदान करने का, स्वाध्याय कर तत्त्वज्ञान करने का भाव होना बड़ा मुश्किल है। देखा तो यही जाता है कि कर्म के परवश हुए संसारी जीवों को विभव,

अधिकार, शरीरबल और इज्जत का मद हो जाता है, जिससे तमाम शुभ कर्तव्यों से विमुखता हो जाती है। आचार्य ऐसों को ही संबोधन करते हुए उपदेश करते हैं) कि हे भव्यों- संसार के स्वरूप का विचार करो, इष्टवियोग अनिष्ट संयोग जनित प्रक्रिया का ध्यान करो, कुटुम्ब के मेल और वियोग से उत्पन्न स्थिति का विचार करो फिर विवेक को जाग्रत कर अपना हित विचारो, अपना हित तो धर्म के सेवन करने में ही है। विचार कर देखो शास्त्रों में ऐसे ऐसे तीर्थंकरादिक पुण्यात्माओं का ही वर्णन है जो असंख्यात द्रव्य के अधिपति थे। कितने ही तो तीन लोक से पूज्य तीर्थंकर पद तक के धारी हुए हैं उन्होंने सारे वैभव को तृणवत त्यागकर रत्नत्रय धर्म का आराधन किया है और उससे हमेशा के लिये अनंत सुख का स्थान प्राप्त किया है। इसी को दौलतरामजी ने सराहा है उन्होंने कहा है कि-

धनि धन्य हैं जे जीव, नर-भव पाय, यह कारज किया।
तिनही अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार तजि वर सुख लिया॥(13)
मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं।
अरु धरैंगे ते शिव लहैं तिन, सुयश-जल-जग-मल हरैं॥
इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह सिख आदरौ।
जबलौं न रोग जरा गहै तबलौं झटिति निज हित करौ॥14॥
यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निजपद बेइये॥(15)

[पण्डितप्रवर दौलतरामजी विरचित 'छहढाला'- छठवीं ढाल , छंद 13,14,15]

इस संसार में पहिले तो जीव धर्म को जानता ही नहीं है कभी बड़ा कष्ट उठाकर धर्म की जानकारी कर भी लेता है, तो मोह रूप पिशाच में भ्रमाया हुवा उस धर्म का आचरण नहीं कर सकता है। अगर कभी

कोई काललब्धि से या गुरु के संयोग से, ज्ञानावरणी के क्षयोपशम से जान भी जाता है तो उसका उसी रूप से आचरण नहीं कर सकता है। इस प्राणी को जिस प्रकार से इस संसार में इन्द्रियों के विषयों में प्रीति है उस प्रकार की यदि जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित इस दशलक्षण रूप धर्म में प्रीति हो जावे थोड़े ही समय में संसार का त्याग कर मोक्ष प्राप्त कर लेवे। लोग ऐसा मानते हैं कि धनाद्धर्मं अर्थात् धन होगा तो उससे धर्म हो जायगा सो ऐसा मानना भी अज्ञानता का सूचक है। क्योंकि जैसे बिना बीज के धान्य नहीं होता है उसी तरह बिना धर्म सेवन किये लक्ष्मी कहां से हो जायगी? इसलिए धन की आद्यजननी तो धर्म प्राप्ति है। धर्म किन किन प्रवृत्तियों से हो सकता है? इसके उत्तर में धर्मात्मा की प्रवृत्ति इस प्रकार जाननी चाहिए कि धर्मात्मा को अपने बैरियों में भी क्षमा भाव धारण करना चाहिए। वह तो पर के द्रव्य का त्यागी होता है। पराई स्त्री को मां बहन बेटी के समान जानता है। धर्मात्मा की कीर्ति सर्वत्र फैलती है। उसका सभी लोग विश्वास करते हैं, वह तो सबसे प्रिय वचन ही बोलता है जिससे किसी को दुःख उत्पन्न न हो। सम्यक्त्व सहित उत्तम धर्म से युक्त तिर्यंच भी देव पदवी प्राप्त कर लेता है, चांडाल भी धर्म सहित होने से देवों का इन्द्र हो जाता है, धर्म के प्रभाव से अग्नि सो हिम हो जाती है, सर्प उत्तम रत्नों की माला हो जाता है।

देव दास हो जाता है, तीक्ष्ण खड्ग फूलमाला हो जाता है, बैरी मित्र हो जाता है, जहर अमृत हो जाता है। जो जीव धर्म रहित होते हैं वे मिथ्यात्व के वश होकर देव भी हों तो वनस्पति में आकर जन्म ले लेते हैं। चक्रवर्ती भी यदि धर्म रहित हो तो मरकर नरकों के दुखों का पात्र हो जाता है। धर्मरहित जीव असह्य पराक्रम क्यों न करे पर उसको इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती है उल्टा उसका नुकसान ही

होता है। इसलिए आचार्य भव्य जीवों को सम्बोधन करते हुए उपदेश करते हैं कि हे प्राणियों! धर्म अधर्म का फल प्रत्यक्ष देखकर धर्म का आदर करो और पाप का परिहार करो इस प्रकार का चिंतवन करने वाले पुरुष का धर्मानुराग से धर्म में प्रयत्न होता है। इन अनित्यत्वादि बारह भावनाओं के चिन्तन करने का फल वैराग्य की दृढ़ता और नवीन कर्मों का रोध होता है

ध्यान भी कर्मों के संवर और निर्जरा होने में कारण है, इसलिए जो भी ध्यान का सामान्य रूप से कथन पहिले कर दिया गया है अब विशेष रूप से धर्मध्यान और शुक्लध्यान का उनके परिकर के साथ वर्णन किया जाता है-

ऊपर कहा गया है कि यह जीव अनादिकाल से कर्म की परवशता में चला आ रहा है। जिससे पर पदार्थों की संगति में रहकर उनके स्वरूप के विचार करने में तत्पर रहा,अपने स्वरूप का तो कभी ध्यान नहीं किया, सो अपने स्वरूप का विचार करना धर्मध्यान है।

प्रश्न- आत्मा का आत्मा की तरफ ऋजु होना धर्मध्यान कैसे कहा?

उत्तर- आत्मा का आत्मा की ओर ऋजु होने को धर्मध्यान इस प्रकार माना है कि जब आत्मा अपने स्वरूप का विचार करता है तब वह जीवात्मा अपने आपको हरएक तरह की आपत्तियों में फँसा हुआ देखता है और वह विचार करता है कि मेरा आत्मा तो इन आपत्तियों में फँसा हुवा है।

प्रश्न- वह आपत्तियां कौन २ हैं।

उत्तर- वह आपत्तियां जब यह जीव धर्मध्यान का अनुभव करता है तब उसके उपयोग में आती हैं कि मैं कर्म के अधिकार से होने वाली

इन दो विपत्तियों में फँसा हुवा हूं। जिन आपत्तियों में फँसा रहता है उनका हम पहिले आर्त रौद्र ध्यान के वर्णन के प्रकरण में वर्णन कर चुके हैं जिसको कि आपने पहिले पढ़ा ही होगा। उन आपत्तियों से यह जीव तब ही बच सकता है जब अपने में अपने आपके चिंतवन करने का सहारा लेगा।

प्रश्न- कृपा कर धर्मध्यान वा उसके भेदों का शास्त्राधार से खुलासा वर्णन कर दीजिए जिससे सचेत होकर यह जीव उन आपत्तियों से बचने की कोशिश कर सके?

उत्तर- धर्मध्यान और उसके भेद सिद्धान्त में जिस तरह से वर्णन किये गये हैं उनका वर्णन निम्न प्रकार है-

बिण्णि वि असुहे झाणे पावणिहाणे य दुक्खसंताणे।
णच्चा दूरे वजह धम्मे पुण आयरं कुणह।। ४७७।।
द्वे अपि अशुभे ध्याने पापनिधाने च दुःखसन्ताने।
ज्ञात्वा दूरे वर्जत धर्मे पुनः आदरं कुरुत।।४७७।।*(छाया)*

[श्री स्वामी कार्तिकेय विरचित 'श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा']

अर्थ- हे भव्यात्माओं! आर्त रौद्र ये दो ध्यान तो अशुभ ध्यान हैं। इनको पाप के खजाने और दुःख की सन्तान जानकर इनका त्याग करे। इनका तो दूर ही से त्याग करो। धर्मध्यान को सुखदाता समझ कर उसका आचरण करो!

प्रश्न- सबसे पहिले ये बतलाइये कि ध्यान कहते किसे हैं? यह क्यों करना चाहिए? और उस ध्यान करने का अधिकारी कौन है तथा ध्यान का फल क्या है? इतना बतलाने के बाद धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेदों को समझाइये!

उत्तर- आद्य त्रिसंहतैः साधैरांतर्मौहूर्त्तिकं परम् ।
वस्तुन्येकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते ॥५॥

[श्री अमितगति सूरि विरचित 'अमितगति श्रावकाचार'- पञ्चदशः परिच्छेदः]

अर्थ- आदि के तीन संहनन धारी साधु के चित्त की जो उत्कृष्ट रूप से एक अन्तर्मुहूर्त तक एक वस्तु में स्थिरता होना उसी को ध्यान कहते हैं। वज्रऋषभनाराचसंहनन, वज्रनाराच और नाराच इन संहनन धारी जीवों का उपयोग एक वस्तु विषयक ध्यान में उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्त ही लग सकता है, बाकी के जीवों का कोई का एक क्षण कोई का दो क्षण तीन क्षण चार पांच छह आदि तक लग सकता है। इससे ज्यादा नहीं

समस्तकर्मविश्लेषो ध्यानेनैव विधीयते
न भास्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्वरं तमः॥3॥

[श्री अमितगति सूरि विरचित 'अमितगति श्रावकाचार' - पञ्चदशः परिच्छेदः]

अर्थ- जीवों की सर्व कर्मों से मुक्ति दूसरे किसी प्रयोग से नहीं होती है, केवल ध्यान से ही हो सकती है। जैसे रात्रि का गहन अंधकार एक सूर्योदय के सिवाय किसी से नष्ट नहीं हो सकता है। इसलिये-

यत्नः कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मेभ्यो मोक्षकां क्षिभिः।
रोगेभ्यो दुःखकारिभ्यो व्याधितैरिव भैषजम्॥4॥

[श्री अमितगति सूरि विरचित 'अमितगति श्रावकाचार' - पञ्चदशः परिच्छेदः]

अर्थ- व्याधि से युक्त लोक जिस प्रकार दुखकारी रोग से मुक्त होने के लिये दवाई के सेवन करने में प्रयत्न करते हैं। उसी प्रकार कर्मों से मोक्ष के चाहने वाले भव्यों को ध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान करने वाले ध्याता को इन चार बातों का विचार करना चाहिए-

साधकः साधनं साध्यं फलं चेति चतुष्टयम्
विबोद्धव्यं विधानेन बुधैः सिद्धिं विधित्सुभिः॥7॥

[श्री अमितगति सूरि विरचित 'अमितगति श्रावकाचार' - पञ्चदशः परिच्छेदः]

अर्थ- शास्त्र के अनुसार ध्यान को सिद्ध करने वाले विद्वानों को ध्यान सम्बन्धी- साधक, साधन, साध्य और फल इन चार बातों का अच्छी तरह विचार करना चाहिए।" वे चार बातें क्या हैं?

संसारी साधको भव्यः साधनं ध्यानमुच्चलम्।
निर्वाणं कथ्यते साध्यं फलं सौख्यमनश्वरम्॥8॥

[श्री अमितगति सूरि विरचित 'अमितगति श्रावकाचार' - पञ्चदशः परिच्छेदः]

अर्थ संसारी भव्य जीव तो साधक हैं, शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना साधन है। मोक्ष साध्य है और अविनश्वर सुख की प्राप्ति होना उसका फल है।

व्यक्त राग सहित पंचपरमेष्ठी तथा दशलक्षण रूप धर्म तथा अपने आत्मस्वरूप में चित्त का एकाग्र होना सो धर्मध्यान है। यह ध्यान शुभोपयोग में होता है सो चौथे गुणस्थान से सातवे गुणस्थान तक होता है, क्योंकि इस ध्यान में कषाय के मंदस्थान रहते हैं। क्योंकि कहा गया है कि-

अनपेतस्य धर्मस्य, धर्मतो दशभेदतः।
चतुर्थः पंचमः षष्ठः सप्तमयश्च प्रवर्त्तकः॥17॥

[श्री अमितगति सूरि विरचित 'अमितगति श्रावकाचार' - पञ्चदशः परिच्छेदः]

अर्थ- दशलक्षण धर्म से भ्रष्ट न होने वाले जीवों के धर्मध्यान चौथे पंचमें छठवें और सातवें गुणस्थान में होता है यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान से आगे परिणामों की निर्मलता और आत्मध्यान की आसक्ति

अधिक अधिक होती है तथापि धर्मध्यान तो सातवे गुणस्थान पर्यंत ही समझना चाहिये।

धर्मध्यान के भेद-

आज्ञापायविपाकानां, चिन्तनं लोकसंस्थितेः।
चतुर्धाऽभिहितं धर्म्यं, निमित्तं नाकशर्मणः॥13॥

[श्री अमितगति सूरि विरचित 'अमितगति श्रावकाचार' - पञ्चदशः परिच्छेदः]

अर्थ- धर्मध्यान के चार भेद हैं १) आज्ञाविचय २) अपायविचय ३) विपाकविचय ४) संस्थानविचय ये ध्यान स्वर्ग सुख का साधन स्वरूप है। धर्म किसे कहते हैं इस विषय का प्रकाश ऊपर धर्मभावना में काफी डाला गया है फिर भी प्रकरणवश संक्षेप में कहा जाता है- अभेद विवक्षा से वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। जैसे जीव का चैतन्य स्वभाव है सो यही जीव का धर्म है। भेद विवक्षा से दशलक्षण उत्तम क्षमादिक तथा रत्नत्रयादिक धर्म हैं। निश्चय से अपने चैतन्य की रक्षा करना- विभाव परिणति रूप नहीं परिणमना और व्यवहार से दूसरे जीवों को विभाव रूप दुःख क्लेश रूप न करना जीव का प्राणांत न करना ही धर्म है। ध्यान का स्वरूप एक ज्ञेय में ज्ञान का एकाग्र होना है। जो पुरुष जिस समय धर्म में एकाग्र चित्त करता है उस समय इन्द्रियों के विषयों का अनुभवन न करे तो उस पुरुष के धर्मध्यान होता है। इसका मूल कारण संसार देह भोग से विरक्त होना है। क्योंकि बिना वैराग्य से धर्म में चित्त नहीं थमता है। जो संपूर्ण अन्य विकल्पों के रहित अपने स्वरूप मन को थामने से आनंद रूप चिंतवन रहे सो उत्तम धर्मध्यान। उसी ध्यान के जो ऊपर चार भेद कहे गये हैं उनका भाव ऐसा समझना चाहिये-

जीवादिक छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व नव पदार्थों का विशेष रूप विशिष्ट गुरु के अभाव से तथा अपनी मंदबुद्धि के वश से प्रमाण नय निक्षेपादि से साधना, ऐसा नहीं जाना जाय तब ऐसा श्रद्धान करना कि सर्वज्ञ वीतरागदेव ने जो कुछ कहा है वह हमको प्रमाणभूत है। ऐसी आज्ञा मानकर उसी के अनुसार पदार्थों में उपयोग का थामना सो आज्ञाविचय नामक पहिला धर्मध्यान है।

अपाय नाम नाश का है। जिनका ज्ञाननेत्र मिथ्यादर्शन से ढक गया है उनके आचार विनय उद्यमादिक सभी संसार को बढाने वाले हैं। अविद्या की अधिकता से संसार परिभ्रमण बढता ही है तथा जिस प्रकार जन्म के अंधे बलवान हैं तो भी सन्मार्ग से छूटे हुए होने से कल्याण मार्ग के उपदेश दाता बिना, नीच ऊंच पर्वत विषम पाषाण कठोर-स्थाणु कंटकों के समूह से व्याप्त पृथ्वी में पड़े हुए उद्यम करने पर भी सन्मार्ग में प्राप्त होने को समर्थ नहीं होते हैं उसी प्रकार सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख पुरुष मोक्ष की इच्छा करे तो भी उपदेश दाता बिना, सत्य मार्ग को नहीं जानने से दूर से ही नष्ट होते हैं। इस प्रकार से सन्मार्ग के अभाव का चिंतवन करना सो अपाय विचय नाम का दूसरा धर्मध्यान है। ज्ञानार्णव में इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया है कि-

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।
अपायः कमेणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥1640॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (चतुस्त्रिंशः सर्गः - श्लोक १)]

भाव यही है कि जिस ध्यान में ऐसा चिन्तवन किया जाता कि ये विचारे संसारी जीव कर्म के वश में होकर कैसे दुख भोग रहे हैं हे भगवान इनके कर्मों का नाश कैसे हो इसी को अपायविचय नाम का

धर्मध्यान बुद्धिमानों ने कहा है अथवा मिथ्यादृष्टियों के द्वारा कहे हुए उन्मार्ग से ये प्राणी कैसे टलें तथा अनायतन सेवा का अभाव कैसे हो तथा पाप के कारण वचन और पाप की भावना का अभाव प्राणियों के कैसे हो इत्यादि चिन्तवन करना सो अपायविचय नाम का धर्मध्यान जानना चाहिए।

विपाक विचय धर्मध्यान-

स विपाक इति ज्ञेयोः यः स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम्॥1658॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (पञ्चत्रिंशः सर्गः - श्लोक १)]

अर्थ- प्राणियों पूर्वकृत (अनेक जन्म में उपार्जन किये हुए) कर्म के फल का उदय होता है वह विपाक नाम से कहा जाता है। वह कर्मोदय प्रतिक्षण उदय में आता है और ज्ञानावरणादि अनेक रूप होकर जीवों को अपना रस देता है। वह उदय चाहे पाप रूप हो या पुण्य रूप हो परन्तु एक क्षण भी साता का सहकारी नहीं होता है। क्योंकि संसार में कैसा ही बलशाली पुरुष क्यों न हो परन्तु उसको कर्म के उदय में एक क्षण भी शांति नहीं मिलती है। इसी से तो तीर्थंकर सरीखे पुण्यात्माओं ने भी संसार का त्याग कर वैराग्य का अवलम्बन लिया। इससे हे भव्य प्राणियो! तुम भी इन कर्मों की पराधीनता से निकलने का प्रयत्न कर इनके नाश करने का उपाय सोचो। क्योंकि ये मनुष्य भव बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुवा है। यही सम्यक्त्वकौमुदी नाम के ग्रन्थ में बतलाया है-

अर्थाः पादरजःसमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं
मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवितम् ।

धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापहतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥244॥

[सम्यक्त्व-कौमुदि]

अर्थ- मनुष्य को धन संपत्ति तो पैरों की धूली के समान है। यौवन पर्वत से गिरने वाली नदी के वेग के समान शीघ्र जाने वाला है। आयु जल की चंचल बिंदु के समान है- जैसे बरसने वाली बूंद देखते देखते नाश हो जाती है उसी तरह आयु भी देखते देखते क्षय हो जाती है। जीवन फैन के समान क्षणविध्वंसी है। स्वर्ग की अर्गला का उद्घाटन करने वाले धर्म का जो अज्ञानी सेवन नहीं करता है वह पश्चाताप युक्त होता हुवा बुढापे में शोक रूप अग्नि से हमेशा जलता रहता है। क्योंकि बुढापे में शक्तिक्षीण हो जाने से और तो कुछ कर सकता नहीं है, केवल पछता-पछता कर शोक में मग्न रहता है। इसलिये जब तक जवानी रहती है तभी तक धर्म साधनकर कर्मों को नाशकर अपने आत्मा को परमात्मा बनाने की कोशिश करने में लग जाओ। ऐसा करने में ही मनुष्यता सफल हो सकती है।

कहा भी है-

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः संसारघोरार्णवे
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसंतापिताः ।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववातेरिताः
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्ध्यर्थिनः ॥1688॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (पञ्चत्रिंशः सर्गः - श्लोक 31)]

अर्थ- इस प्रकार इस भयानक संसार समुद्र में जीव ज्ञानावरणादिक कर्मों के तीव्रोदय से संयुक्त हैं सो दुर्गति के दुःखरूपी बडवानल की

ज्वाला के सन्ताप से सन्तापित हैं! तथा जन्म मरण रूपी बड़ी बड़ी लहरों के समूह से परिपूर्ण भरे हुए हैं। तथा मिथ्यात्व रूप पवन के प्रेरे हुए क्लेश भोगते हैं। जो धन्य पुरुष हैं वे मुक्ति की सिद्धि के लिए इस विपाक विचय नामक धर्मध्यान का स्मरण करते हैं। भाव ये है कि कर्म के फल के अनुभव का गुणस्थानों में व मार्गणास्थानों में तथा उदीर्णा का चिंतवन करना सो विपाक विचय धर्म ध्यान है।

संस्थान विचय नामा धर्मध्यान-

अनंतानंतमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम् ।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः॥1689॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षट्त्रिंशः सर्गः - श्लोक 1)]

अर्थ- चारों ओर (सब तरफ) अनंतानंत प्रदेशरूप आकाश है वह स्वप्रतिष्ठ है अर्थात् आप ही अपने आधार है। क्योंकि उससे बड़ा अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जिसके आधार से यह आकाश द्रव्य टिके। उस आकाश के बीचोंबीच (मध्यभाग में) यह लोक स्थित है ऐसा श्री सर्वज्ञदेव ने वर्णन किया है। इसलिए प्रमाणभूत है! क्योंकि जिसका कथन कल्पना करके नहीं किया जाता है वह ही प्रमाणभूत होता है। सर्वज्ञ ने अपनी आत्मा से यथार्थ निश्चायक ज्ञान के विरोधी ज्ञानावरणी कर्म का नाश कर निर्मल ज्ञान प्राप्त किया है जिस ज्ञान में निर्मल दर्पण की तरह अलोक सहित तीनो लोकों के सचराचर पदार्थ यथार्थ झलकते हैं। उसी ज्ञान से सर्वज्ञ देव ने लोक का यथार्थ वर्णन अपनी चमत्कारिणी दिव्यध्वनि द्वारा किया है वह श्लोक-

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः।

संपूर्णोऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः॥1690॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (षट्त्रिंशः सर्गः - श्लोक 2)]

अर्थ- यह लोक उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन प्रकार की दशाओं से युक्त चेतन अचेतन पदार्थों से ठसाठस भरा हुआ तथा अनादि संसिद्ध है। इसका कोई कर्ताधर्ता नहीं है। जैसे दूसरे-दूसरे लोग इस लोक का कर्ता ईश्वर को मानते हैं उस तरह से जिनदेव ने इस लोक का कर्ता किसी को नहीं बतलाया है। ईश्वर किसी चीज का भी कर्ता है या नहीं इस विषयक ज्ञान आप्त परीक्षादि दार्शनिक ग्रंथों से जानना चाहिये। इस छोटे से ग्रन्थ का कलेवर बढता है इसी से इस विषय विशेष विवेचन नहीं लिखा जाता है यह लोक ऊर्ध्व मध्य और अधोभाग के भेद से तीन प्रकार का है। उनकी रचना का वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार है- अधोभाग सात राजू प्रमाण है उसमें नरकों की सात भूमियां हैं जिनमें नारकियों के उत्पन्न होने के चौरासी लाख बिले हैं। उन बिलों के आकार उष्ट्रमुख या ढोल की पोलारी के समान हैं। उसमें से नारकी जन्म लेकर कम से कम दश- हजार वर्ष और ज्यादा से ज्यादा तेतीस सागर पर्यंत पाप के परिणाम स्वरूप घोर दुःख भोगते हैं। वहां नाना प्रकार के दुख होते हैं। नारकियों के शरीर का आकार बहुत ही विकृत होता है उनके शरीर महा दुर्गंधित होते हैं वहां के क्षेत्र की / वेदना केवल उसको छूने मात्र की इतनी तीव्र होती है कि एक साथ यदि महाविषैले हजार बिच्छु काट खावें तो उसके वेदना की भी उपमा नहीं बन सकती है। नरकों में ऐसे जीवों का ही गमन होता है जो इस लोक में अज्ञानता वश हिंसादिक महाघोर पापों को करते हैं- परस्त्री सेवन करना, वेश्या गमन करना, चोरी करना, शिकार खेलना, मांस खाना, अभक्ष्य भक्षण करना, छलकपट करना

आदि कार्य ही जीव को नरकों में ले जाने में कारण होते हैं! हे भव्यो इन अनिष्टकारक पापों से बचने का सतत प्रयत्न करते रहो। याद रक्खो पाप करने में आनंद का अनुभव होता है या उनके करने में उत्साह पैदा होता है, लेकिन उनका विपाक बड़ा ही भयंकर होता है।

मध्यलोक- एक लाख योजन ऊंचा है। नीचे जमीन पर एक राजू गोलाकार चिपटा (थाली के आकार) है। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। यहां पर मनुष्य, तिर्यंच और ज्योतिषी देवों का निवास स्थान है। तिर्यंच योनि तो प्रत्यक्ष दुखदाई दीखती है। तिर्यंचों को दुख महाभयंकर होते है। छेदन, भेदन, वध, बंधन, ताड़न काटन, मारण, सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, भारवहन आदि के दुःख तो प्रत्यक्ष दीखते हैं। अंतरंग के असातावेदनीय जन्य कष्टों की गणना तो केवलज्ञान गम्य हैं। मनुष्यों के दुःखों का भी क्या कहना है, पाप कर्म के उदय से अंधे लूले, लंगडे, कोडी, रोगी, वियोगी संयोगी, दरिद्री, इन्द्रिय विकलता आदि के प्रत्यक्ष दुख दीखने में आते ही हैं। इनके अतिरिक्त असातावेदनीय के उदय जन्य और और भी कितने ही प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। कभी पुण्यकर्म के उदय से उच्चकुल उच्चदर्जे भी मिल जाते हैं तो वहां भी अपेक्षा कृत सुख मिलता है लेकिन सच्चा सुख तो वहां भी नहीं मिलता, हां इतना जरूर है कि जिसका भवितव्य अच्छा होने वाला होता है, वह यदि धर्म में रुचि करता है, और संसार का त्याग कर आत्मसाधन करता है तो वह अपना कल्याण भी कर लेता है। कर्तव्य तो यही होना चाहिये कि आत्मसाधन कर हमेशा को सुख साधन कर लो। और भी कितने ही प्रकार के दुख मनुष्य गति में हैं जैसे--विचार करो कि गर्भ में हाथ पांव आदि आंगोपांग सकुचे ही रहते हैं जिसका दुख इस जीव को

बहुत रहता है। गर्भ से निकले बाद कभी २ वाल्य अवस्था में ही माता पिता का मरण हो जाता है तो भूख प्यास से, पराई उच्छिष्टता से अपना भरण पोषण करता है। कभी मांग- मांग कर अपना पेट भरता है, दूसरों के द्वारा पालन पोषण क्रिया में पराधीनता के महा दुख उठाता है, किसी किसी के तीनों पन दुख रूप ही बीतते हैं, फिर भी ये जीव दान पूजा व्रत तप ध्यान स्वाध्यायादि करके पुण्य पैदा नहीं करता है यह बड़ा अज्ञान है यथार्थ देव शास्त्र गुरु का श्रद्धावान, मुनि श्रावकों के व्रत का आचरण करने वाला, मन्द कषायरूप परिणाम, अपने द्वारा किए हुए दोषों को स्मरण कर उसका पश्चाताप करने वाला, अपने दोषों कों गुरुओं के समीप कहने वाला ऐसे ऐसे आचरण करने वाला जीव पुण्य प्राप्त करता है। सो ऐसे जीव विरले ही होते हैं।

कोई ऐसा जानता हो कि जिन्होंने महान पुण्य के कार्य कर बड़ा पुण्य उत्पन्न किया है उनको पुण्यकर्म के उदय से भारी सुख मिलता है, सो ऐसा समझना भी भ्रम ही है, संसार में सच्चा सुख तो किसी को भी नहीं मिलता है क्योंकि और की तो बात क्या भरत चक्रवर्ती सरीखे पुण्यात्माओं को भी अपमानजन्य दुख भोगने पड़े हैं, बडे-बड़े पुण्यात्माओं को भी अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति नहीं हो पाती है उसमें कमी रह ही जाती है। मनोरथ तो किसी के भी पूर्ण नहीं हो पाते। इसलिये सब प्रकार सुखी कैसे हो सकते हैं? और भी देखिये- किसी के तो स्त्री नहीं है, यदि स्त्री है तो पुत्र की प्राप्ति नहीं है। यदि पुत्र की प्राप्ति हो जाती है तो शरीर नीरोग नहीं रहता है, यदि शरीर नीरोग हो जावे तो धन धान्यादि की प्राप्ति नहीं होती है, यदि धन धान्यादि की प्राप्ति हो जावे तो शीघ्र मरण हो जाता है। कोई की स्त्री दुराचारिणी

हो जाती है, कोई का पुत्र व्यसनरत देखा जाता है, कोई का भाई शत्रु के समान है तो किसी की पुत्री दुराचारिणी निकलती है, किसी को सुयोग्य पुत्र, स्त्री, भाई का वियोग हो जाता है कर्म का उदय बड़ा बलवान है-पुण्य कर्म के उदय से शत्रु भी मित्र हो जाता है तथा पाप कर्म के उदय से मित्र शत्रु हो जाते हैं। ऐसे-ऐसे कर्म के उदय के रस मनुष्यगति में भोगने पड़ते हैं।

कोई ये समझता हो कि देवगति में सुख होता होगा सो भी बात नहीं है। देखिये एक देव दूसरे बड़ी ऋद्धिधारी देव की ऋद्धि को देखकर मानसिक दुःख से दुखित होता है। महर्द्धिक देवों को भी इष्ट ऋद्धि देवांगनादि का वियोग होता है और उस सम्बन्धी दुःख होता है। जिनका सुख विषयों के आधीन हैं उनको तृप्ति कैसे हो सकती है! उसकी तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है। कोई ऐसा जानता होगा कि शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख तुच्छ होता होगा, सो ऐसा नहीं है-शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख तेज होता है क्योंकि जहां मानसिक दुःख होता है वहां तमाम सुख की सामग्री भी दुख रूप ही हो जाती है। क्योंकि अन्य निमित्त से जो सुख माना जाता है वह तो भ्रम ही है कारण कि जो वस्तु आज सुख की कारण होती है कालान्तर में वही दुख रूप परिणम जाती है। इसलिए निश्चय से विचारा जाय तो संसार में कोई वस्तु सुखदाई नहीं है सब दुख के ही कारण हैं। यह जीव तो पर्याय बुद्धि हैं जहां जन्म लेता है वहीं सुख मान बैठता है। हे भव्यों मोह के माहात्म्य का विचार तो करो कि पाप कर्म के उदय से जब कोई राजा मर कर मल का कीड़ा हो जाता है तो वह वहां ही मग्न हो जाता है। इस प्रकार लोक के तीनों भागों में इस जीव को दुख भोगने पड़ते हैं। इसी लोक में जीव को पंच परावर्तन रूप परिभ्रमण करना

पड़ता है। पंच परावर्तनों का स्वरूप सर्वार्थसिद्धि स्वामी कार्तिकेयादि ग्रन्थों से जानना चाहिए। इस प्रकार धर्मध्यान के चार पायों का वर्णन जानना चाहिए और भी चार प्रकार का धर्मध्यान बतलाया है (१) पदस्थ (२) पिण्डस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपातीत। उनका लक्षण इस प्रकार का बतलाया है-

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिंडस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्॥

['बृहद् द्रव्य संग्रह' गाथा ४८ की श्री ब्रह्मदेव सूरी की टीका में उद्धृत]

अर्थ- मन्त्र वाक्यों में जो स्थित है वह पदस्थ ध्यान है। निज आत्मा का जो चिन्तवन है वह पिंडस्थ ध्यान है, सर्व चिदरूप का चिन्तन जिसमें हैं वह रूपस्थ ध्यान है और निरंजन का जो ध्यान है वह रूपातीत ध्यान है। इस प्रकार नाना प्रकार का ध्यान जानना चाहिए। यहां पर प्रकरण उपयोगी जान कर कुछ वर्णन ज्ञानार्णव का लिखा जाता है जो ध्यान करने वालों के उपयोग की वस्तु है, इसका उपयोग करना चाहिए-

पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप-

पिण्डस्थे पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशात्रिकृन्तति ॥1878॥
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥1879॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 2,3)]

अर्थ- पिंडस्थ ध्यान में श्री वर्द्धमान स्वामी से कही हुई जो पांच धारणाएं हैं उनसे संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसार रूपी पाश को काटता है। वे

पांच धारणाएं निम्न लिखित हैं- (१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) श्वसना (४) वारुणी और पांचवीं (५) तत्त्वरूपवती।

पार्थिवी धारणा का स्वरूप-

तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम्।
निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसन्निभम्॥1880॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 4)]

अर्थ- सबसे पहिले योगी जो साधक होते हैं वे मध्य लोक स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यंत जो तिर्यग्लोक है उसके समान निःशब्द कल्लोल रहित बर्फ के समान सफेद क्षीर समुद्र की अपने चित्त में कल्पना करके उसका ध्यान करें। फिर उस क्षीरसमुद्र पर्यंत समुद्र के बीचोंबीच एक लाख योजन वाले समेरु पर्वत की कल्पना करे, फिर उसकी चोटी के बीचों बीच तपाये हुए सुवर्ण के समान सहस्र दल वाले कमल को अपने ध्यान में बनावें।

इस कमल की भी, जंबूद्वीप के समान एक लाख योजन के व्यास की कल्पना करे। फिर उस कमल के मध्य भाग में जिसकी प्रभा से दशों दिशाएं पीली हो गई हों ऐसी पीत रंग की कर्णिका की कल्पना करे। उस कर्णिका में शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान सफेद वर्ण का एक ऊंचा सिंहासन कल्पित करे, उस सिंहासन पर सुख स्वरूप शान्त स्वरूप सब प्रकार के कर्म मल के क्षय करने में समर्थ अर्थात् आत्मा के साथ जितने प्रकार के कर्म सम्बन्ध करते हैं उन सबके नाश करने में समर्थ अपने आत्मा की कल्पना करना इस प्रकार के चिंतवन को पार्थिवी धारणा कहते हैं।

अब दूसरी आग्नेयी धारणा का स्वरूप कहते हैं-

ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥1886॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 10)]

अर्थ- तत्पश्चात् योगी (ध्यानी) निश्चल अभ्यास से अपने नाभिमण्डल में सोलह ऊंचे-ऊंचे (उठे हुए) कमल पत्रों का ध्यान करे। उन उठे हुए सोलह पत्रों पर महा मन्त्र के सोलह अक्षरों का अर्थात्-अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः का ध्यान करे। रही बीचोंबीच की कर्णिका, सो उसमें " **ह्रँ** " ऐसी कल्पना करके उसका ध्यान करे और उसमें ऐसा ख्याल करे कि कर्णिका के अक्षर में जो रेफ है उसमें से मन्द मन्द निकलती हुई धूम की शिखा है। उस कर्णिका के ऊपरी भाग में एक अष्ट पत्र वाले दूसरे कमल का चिन्तन करे। उस कमल के बीच की कर्णिका में सामान्य रूप से कर्म स्थापन करे उसके आठों पत्रों पर आठ ही कर्म स्थापित करे। अर्थात् १ ज्ञानावरण २ दर्शनावरण ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय। इनकी स्थापना करे। पश्चात् सोलह पांखुरी वाले कमल के बीचोंबीच जो कर्णिका है उस के बीच में जो बीजाक्षर "र्हं" है उसकी रेफ में से मन्द मन्द निकलती हुई धूम (धुएं) की शिखा है उस शिखा में से अनुक्रम से प्रवाह रूप निकलने वाले स्फुलिंगों की पंक्ति की ज्वाला की लपटें हैं ऐसा चिन्तवन करे उस निकलती हुई ज्वाला के लपटों के समूह से अपने हृदयस्थ वा नाभिस्थ दोनों कमलों सहित शरीर दग्ध हो गया ऐसा चिन्तवन करे। इस प्रकार चिन्तन करने से कर्म नोकर्म दग्ध हो गये ऐसा निश्चय

करना चाहिए। अब जलाने योग्य पदार्थ रहा नहीं, और अग्नि स्वयं शान्ति को प्राप्त हो गई ऐसे चिन्तवन को आग्नेयी धारणा कहते हैं

मारुति धारणा का स्वरूप-

चलायन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशालयम्।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम्॥1897॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 21)]

अर्थ- आकाश के प्रदेशों में पूर्ण होकर विचरते हुए महावेग वाले और महा बलवान वायुमण्डल का चिन्तवन करे कि यह पवन देवों की सेना को चलायमान करता है, मेरु पर्वत को कँपाता है, मेघों के समूह को इधर उधर बखेरता है तथा समुद्र को क्षोभायमान करता है। दशों दिशाओं में प्रबल वेग से बहता है तथा पृथ्वी तल में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् ऊपर कही हुई आग्नेय धारणा से जो शरीरादिक भस्म हुए थे उनकी भस्म को इस वायुमण्डल ने तत्काल उड़ा दिया। इसके बाद वायु को स्थिर रूप चिन्तवन करके शान्त करे। इस प्रकार मारुति धारणा कही।

अब वारुणी धारणा को कहते हैं-

वारुण्यां स हि पुण्यात्मा घनजालचित्तं नभः।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत्॥1900॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 24)]

अर्थ- वही पुण्यात्मा इन्द्र धनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघों के समूह से भरे हुए आकाश का चिन्तवन करे तथा उन मेघों से उत्पन्न हुई मोती समान उज्ज्वल बड़े-बड़े बिन्दुओं से निरन्तर धारा रूप

बरसते आकाश का स्मरण करे।

तत्पश्चात् अर्ध चन्द्राकार मनोहर अमृतमय जल के प्रवाह से शरीर के जलने से उत्पन्न हुए समस्त भस्म का प्रक्षालन करते हुए अर्थात् सब प्रकार जल से धुले हुए आत्मा के प्रदेश हैं ऐसा चिन्तवन करे इस प्रकार वारुणी धारणा का चिन्तवन करे।

अब तत्त्वरूपवती धारणा का वर्णन करते हैं-

सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धधीः॥1904॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 28)]

अर्थ- सात प्रकार की धातुओं से रहित, पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्मल है प्रभा जिसकी, ऐसे सर्वज्ञ के समान अपने आत्मा का संयमी ध्यान करे। कैसा है वह आत्मा १ अतिशय शोभा सहित सिंहासन पर आरुढ कल्याणकारी महिमा सहित, देव, दानव धरणेंद्र, नरेन्द्रों के, द्वारा पूजित, विलय हो गये हैं आठों कर्म जिसके, अतिनिर्मल, पुरुषाकार अपने ही शरीर में स्थित है ऐसा आत्मा है ऐसा चिंतवन करे।

विद्यामंडलमंत्रयंत्रकुहकक्रूराभिचाराः क्रियाः
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ।
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनाम्
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ।।1909।।

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 33)]

अर्थ जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर उलूक (उल्लू) भाग जाते हैं। उसी प्रकार इस पिण्डस्थ ध्यान रूपी घन के समीप होने से विद्या,

मंडल, मंत्र, यंत्र, इद्रजाल, आश्चर्य, कर अभिचार (मारणादिक) रूप क्रिया, सिंह, आशीविष सर्प, देव, हस्ति, अष्टापद शाकिनी, ग्रह, राक्षस भी खोटी वासना छोड़ देते हैं।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन॥1907॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (सप्तत्रिंशः सर्गः - श्लोक 31)]

अर्थ- इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान में जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकार से साधने में न आवे ऐसे मोक्ष के सुख को शीघ्र ही प्राप्त होता है। इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान का वर्णन किया।

अब पदस्थ ध्यान का वर्णन करते है पदस्थ ध्यान का वर्णन विस्तार पूर्वक श्री ज्ञानार्णव नाम के ग्रंथ में कहा है सो वहां से जानना, इस ग्रंथ में विस्तार के भय से नहीं लिखा जाता है। इसी प्रकार वहीं से दूसरी-दूसरी धारणाओं का निरूपण जानना चाहिये

इस प्रकार ध्यान के अभ्यासी आत्मा को अनेक प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। इन ऋद्धियों में एक आत्मा का स्वाभाविक गुण सम्यग्दर्शन भी प्राप्त हो जाता है। उस सम्यग्दर्शन की महिमा बड़े-बड़े आचार्यों ने बड़े ही महत्व के साथ वर्णन की है।

प्रश्न- हे भगवन् सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? उसके धारण करने के लिये क्या-क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये तथा इसको किसने धारण करके क्या फल पाया है इत्यादि का सविस्तार कथन कीजिये?

उत्तर- हे भव्य तूने बहुत अच्छा प्रश्न किया है, अब मैं तुझे जैसा बड़े बड़े चार ज्ञान धारी गणधरादि आचार्यों ने सम्यग्दर्शन के विषय में

कहा है वही कहता हूं सो ध्यान से सुन सम्यग्दर्शन का तो बड़ा ही महत्व है। जिस किसी ने इसको धारण किया है वह संसार समुद्र के पार हो गया है तथैव जो आगे भी धारण करेंगे वे भी संसार समुद्र के पार जावेंगे। अब मैं तुझे पहिले सम्यग्दर्शन का लक्षण जैसा कि परमपूज्य सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्यप्रवर नेमिचन्द्रजी ने बतलाया है कि-

जीवादीसद्दहणं, सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु
दुरभिणिवेसविमुक्कं, णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥41॥

[श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित 'द्रव्यसंग्रह']

अर्थ- जीव आदि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यक्त्व है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है। और इस सम्यक्त्व के होने पर संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय इन तीनों दुरभिनिवेशों से रहित होकर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। भाव ये है कि सम्यक्त्व के पहिले संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रूप दोषों से दूषित होने के कारण ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है और सम्यक्त्व के होते ही ऊपर कहे हुए दोष ज्ञान में से चले जाते हैं। इस कारण वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सो यह सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) का ही माहात्म्य है। अब हम यह बतलाते हैं कि ऊपर जो कहा गया है कि सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है उसका विशेष व्याख्यान नीचे लिखे अनुसार है कि- पांच-पांच सौ ब्राह्मणों के अध्यापक गौतम, अग्निभूत और वायुभूत नामक तीन ब्राह्मण चारों वेद, ज्योतिष्क, व्याकरण आदि छह अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति शास्त्र, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमांसा, न्यायशास्त्र इत्यादि समस्त लौकिक शास्त्रों को जानते थे। तो भी

उनका ज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना मिथ्याज्ञान ही था, परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथा के अनुसार श्रीमहावीर स्वामी, तीर्थंकर परमदेव के समोसरण में गये तब मानस्तंभ के देखने मात्र से ही आगम भाषा से दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से और अध्यात्मभाषा से निज शुद्ध आत्मा के संमुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियों के विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया और उसी समय उनका जो मिथ्याज्ञान था वही सम्यग्ज्ञान हो गया है। और सम्यग्ज्ञान होते ही 'जयति भगवान इत्यादि रूप जो प्रसिद्ध श्लोक हैं उससे भगवान को नमस्कार करके श्री जिनेंद्र की दीक्षा को धारण कर, केशों का जो लोच किया उसके पीछे ही मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय नामक चार ज्ञान तथा सप्त ऋद्धियों के धारक होकर तीनों ही श्रीभगवान महावीर स्वामी के समवसरण में गणधर देव हो गये। उनमें से गौतम स्वामी ने भव्यजीवों के उपकार के लिये द्वादशांग रूप श्रुत की रचना की। फिर वे तीनों ही निश्चय रत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष को चले गये और एकादश अंग का पाठी भी जो अभव्यसेन नाम का एक मुनि था वह सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञानी ही रहा इन दोनों प्रकार की कथाओं से निश्चित हुवा कि सम्यक्त्व के माहात्म्य से मिथ्या रूप ज्ञान तपश्चरण व्रत, उपशम तथा ध्यान आदि हैं वे सम्यक हो जाते हैं और सम्यक्त्व के बिना विष से मिले हुए दूध के समान ज्ञान तपश्चरण आदि सब व्यर्थ हैं ऐसा जानना चाहिये।

सम्यग्दर्शन २५ मल अर्थात् दोषों से रहित होता है। उन २५ मलों में से देवता मूढता, लोकमूढता और समय- मूढता के भेद से तीन तो मूढताएं होती हैं।

उनमें (क्षुधा) तृषा (प्यास) आदि अठारह दोषों से रहित, अनंतज्ञान आदि अनंत गुणों सहित जो वीतराग सर्वज्ञदेव हैं उनके स्वरूप को नहीं जानता हुआ जीव ख्याति (लोक में प्रसिद्धि) पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री और राज्य आदि की संपदा पाने के लिये राग द्वेष युक्त, आर्त रौद्र ध्यान वाले परिणामों के धारक क्षेत्रपाल, चंडिका आदिक मिथ्यादृष्टि देव की जो आराधना करना सो देवमूढता है। क्योंकि ये क्षेत्रपाल आदि देव कुछ भी फल नहीं देते हैं। फल कैसे नहीं देते हैं? यदि ऐसा पूछा जाय तो उत्तर ये है कि रावण ने श्रीरामचंद्रजी और लक्ष्मण के विनाश के लिये बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की और कौरवों ने पांडवों के नाश करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की थी कंस ने श्रीकृष्ण के नाश के लिये बहुत सी विद्याओं की आराधना की थी परन्तु उन विद्याओं ने उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं किया। और श्रीराम आदि ने इन विद्याओं की कोई आराधना नहीं की तो भी निर्मल सम्यग्दर्शन से उपार्जित पुण्य से उनके सब विघ्न दूर हो गये। धर्म समझकर पुण्य के लिये गंगा आदि नदी रूप तीर्थों में स्नान करना, समुद्र में स्नान करना, जल में प्रवेश करके मरना, मुर्दे की अग्नि में प्रवेश करके मरना, गाय की पूंछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथ्वी, अग्नि, पीपल, वटवृक्ष आदि की पूजा करना, धन दौलत की पूजा करना, पत्थर रेता लकड़ी आदि के ढेर कर उनकी पूजा करना सो सब लोकमूढता है।

अज्ञानी लोगों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करने वाले जो ज्योतिष अथवा मंत्रवाद आदि को देखकर श्री वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए धर्म को छोड़कर मिथ्यादृष्टि देव मिथ्याशास्त्र और खोटा तप करने वाले कुलिंगी इन सबका भय, वांछा और स्नेह से तथा लोभ से धर्म

के लिये आदर सत्कार करना, इनकी पूजा प्रतिष्ठा करना सो समयमूढता है! सम्यग्दृष्टि इन तीन प्रकार की मूढताओं का त्यागी होता है। क्योंकि ये सब पुण्य का नाश करने वाली हैं

आठ मदों का परिहार

ज्ञान (कला अथवा हुनर का मद)ऐश्वर्य (हुकूमत का मद) पूजा का मद, तप का मद, कुल का मद, बल का मद, जाति का मद और रूप का मद इन आठ प्रकार के मद का सराग सम्यग्दृष्टि को त्याग करना चाहिये, और मान कषाय से उत्पन्न जो मद मात्सर्य (ईर्षा) आदि समस्त विकल्पों का समूह है उसके त्याग पूर्वक जो ममकार और अहंकार से रहित शुद्ध आत्मा में भावना है वही वीतराग सम्यग्दृष्टियों के आठ मदों का त्याग है। कर्मों से उत्पन्न जो देह, पुत्र, स्त्री आदि हैं उनमें यह मेरा है इस प्रकार की बुद्धि को ममकार कहते हैं। उन शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो मैं गौर हूं, मोटा शरीर वाला हूं, राजा हूं, इस प्रकार मानना सो अहंकार है।

षडनायतनकथन

मिथ्यादेव मिथ्यादेवों के सेवक, मिथ्यातप मिथ्यातपस्वी, मिथ्याशास्त्र और मिथ्याशास्त्रों के धारक पुरुष, इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण के धारक जो छह अनायतन हैं ये सराग सम्यग्दृष्टियों को त्याग करने योग्य हैं। और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनका संपूर्ण दोषों के स्थानभूत मिथ्यात्व तथा विषय कषाय रूप आयतनों के त्यागपूर्वक केवलज्ञान आदि अनंत गुणों के स्थानभूत निज शुद्ध आत्मा में जो निवास करना है सो अनायतनों की सेवा का त्याग है। सम्यक्त्व आदि

गुणों का आयतन (घर आवास-आधार) करने का निमित्त जो हो उसको आयतन कहते हैं। सम्यक्त्व आदिक गुणों से विपरीत मिथ्यात्वादि दोषों के धारण करने के निमित्त जो हों उन्हें अनायतन कहते हैं। अब शंकादि आठ दोषों का कथन करते हैं-

निःशंक आदि आठ गुणों का जो पालन करना है वही शंकादि आठ मलों का त्याग करना कहलाता है और वह इस प्रकार जानना चाहिए- राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों झूठ वचन बोलने में कारण हैं, और रागादि दोष तथा अज्ञान ये दोनों ही वीतराग, सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्रदेव के नहीं हैं, इसलिए श्री जिनेन्द्रदेव से निरूपित किये हुए हेयोपादेय तत्त्व में, मोक्ष में और मोक्षमार्ग में भव्य जीवों को सन्देह नहीं करना चाहिए। शंका के त्याग के विषय में शास्त्रों में अंजन चोर की कथा प्रसिद्ध है, और विभीषण की कथा इस प्रकार से जाननी चाहिए- कि सीताजी के हरण के प्रसंग में जब रावण का श्री राम लक्ष्मण के साथ युद्ध हुआ, तब विभीषण ने विचार किया कि श्री रामचन्द्रजी तो आठवें बलदेव हैं, और लक्ष्मणजी आठवें नारायण हैं तथा रावण आठवां प्रतिनारायण है, जो प्रतिनारायण होता है उसका नारायण के हाथ से मरण होता है ऐसा जैनशास्त्रों में कहा गया है, सो वह कभी झूठ नहीं हो सकता है। इस प्रकार शंका रहित होकर तीन लोक कंटक रूप अपने बड़े भाई रावण को छोड़कर तीस अक्षौहिणी सेना प्रमाण अपनी सेना सहित श्री राम के समीप चला गया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेव को भी शंकारहित जानना चाहिये। वह इस तरह कि जब कंस ने देवकी के बालक को मारने के लिये प्रार्थना की तब देवकी और वसुदेव ने विचार किया कि मेरा पुत्र नवमां नारायण होगा और उसके हाथ से जरासिंधु नामक नवमें

प्रतिनारायण का और कंस का मरण होगा ऐसा जैन शास्त्रों में कहा गया है, इस प्रकार निश्चय करके कंस को अपना बालक देना स्वीकार किया। जिस प्रकार इन सबने शंका रहित कार्य किया इसी तरह सभी भव्यों को जिनेन्द्र के वचनों में शंका नहीं करनी चाहिये इस प्रकार व्यवहारनय से सम्यक्त्व का कथन जानना चाहिये निश्चय से व्यवहार निःशंकित गुण से इस लोक का भय, परलोक का भय, अनरक्षाभय, मरणमय, व्याधिभय, वेदनाभय और आकस्मिकभय इन सात भयों को छोड़कर घोर उपसर्ग और परिषहों के आने पर भी शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय से चलायमान नहीं होना ही निःशंकित गुण जानना चाहिये।

इस लोक और पर लोक संबंधी आशा रूप भोगाकांक्षा निदान का त्याग कर जो केवलज्ञान आदि अनंत गुणों की प्रगटता रूप मोक्ष के लिये ज्ञान पूजा तपश्चरण आदि अनुष्ठानों का करना सो निःकांक्षित गुण है इस गुण के पालने में अनन्तमती की कथा प्रसिद्ध है यहां सीता महारानी की कथा कही जाती है जब लोक के अपवाद को दूर करने के लिये सीताजी अग्निकुंड में प्रविष्ट होकर निर्दोष सिद्ध हुई तब श्रीराम ने उनको पट्टरानी का पद दिया परंतु सीताजी ने पट्टरानी की संपदा को छोड़कर केवल ज्ञानी श्रीसकल भूषण मुनि के चरणारविन्द में कृतांतवक्र आदि राजा तथा बहुत सी रानियों सहित श्रीजिनदीक्षा को ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिका के समूह सहित ग्राम पुर आदि में विहार कर भेदाभेद रत्नत्रय की भावना एस बासठ वर्ष पर्यंत जैन धर्म की प्रभावना की। अन्त्य समय में तेतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा के ध्यान पूर्वक सन्यास (समाधि मरण) करके अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई। और वहां पर

प्रतीन्द्र ने अवधिज्ञान निर्मल सम्यग्दर्शन के फल को देखकर धर्म के अनुराग से नरक में जाकर रावण और लक्ष्मण के जीवों को संबोधा और वह इस समय प्रतीन्द्र रूप से स्वर्ग में रह रही हैं। आगे यही सीता का जीव स्वर्ग से आकर सकल चक्रवर्ती होगा और रावण लक्ष्मण के जीव इस चक्रवर्ती के पुत्र होंगे। बाद में श्रीतीर्थंकर के चरण मूल में अपने पूर्व भवों का हाल जानकर सीताजी (वर्तमान सकल चक्रवर्ती) के साथ दीक्षा को ग्रहण कर भेदाभेद रत्नत्रय की भावना से तीनों जीव पांच अनुत्तर विमानों में अहमिन्द्र होंगे।

वहां आकर रावण तो तीर्थंकर होगा और सीताजी का जीव गणधर होगा और लक्ष्मणजी का जीव घातकी खंड द्वीप में तीर्थंकर होगा। इस प्रकार व्यवहार निःकांक्षित गुण का स्वरूप जानना चाहिये। निश्चय से उसी व्यवहार निःकांक्षा गुण की सहायता से देखे सुने तथा अनुभव किये हुए पांचों इन्द्रियों के विषय भोगों के त्याग से निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न जो पारमार्थिक निज आत्मा से उत्पन्न सुख रूपी अमृत रस में चित्त का संतुष्ट होना सो ही निःकांक्षित गुण है।

भेद अभेद रूप रत्नत्रय की आराधना करने वाले भव्य जीवों की दुर्गंधित और भयंकर आकृति आदि को देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणा भाव से यथायोग्य ग्लानिभाव को दूर करना सो द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है। और जैन मत में सब अच्छी-अच्छी बातें हैं परन्तु नग्नपना और जल से स्नान न करना ये दूषण हैं इत्यादि रूप के भाव करना सो ऐसे भावों को विशेष ज्ञान के बलसे दूर करना सो भावनिर्विचिकित्सा, कहलाती है व्यवहारनिर्विचिकित्सा के विषय में व्यवहार नामक महाराजा और रुक्मणी नामक श्रीकृष्ण की पट्टरानी

की कथा प्रसिद्ध है निश्चय से इसी व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण के बल से संपूर्ण राग द्वेष रूप आदि विकल्प रूप तरंगो के समूह का त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निज शुद्ध आत्मा में निवास करना सो निर्विचिकित्सा गुण है।

श्रीवीतराग सर्वज्ञ देव कथित जो शास्त्र का आशय उससे बहिर्भूत जो कुदृष्टियों के बनाये हुए अज्ञानी जनों के चित्त में विस्मय उत्पन्न करने वाले धातुवाद (रसायनशास्त्र) खन्यवाद, हरमेखल, क्षुद्र विद्या, व्यन्तर विकुर्वणादिक शास्त्र हैं उनको देखकर तथा सुनकर के जो कोई मूढभाव से धर्म की बुद्धि करके उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है उसकी व्यवहार से अमूढदृष्टि गुण कहते हैं । इस गुण के पालने के विषय में उत्तर मथुरा में उदुरुलि भट्टारक, रेवती श्राविका और चन्द्रप्रभ नामक विद्यावर ब्रह्मचारी संबंधी कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। निश्चय से इसी व्यवहार अमूढदृष्टि गुण के प्रसाद से जब अंतरंग के तत्त्व (आत्मा) और बाह्य तत्त्व (शरीरादि) का निश्चय हो जाता है तब संपूर्ण मिथ्यात्व, रागादि तथा शुभ अशुभ- संकल्प विकल्पों के इष्ट जो इनमें आत्मबुद्धि,उपादेयबुद्धि, हितबुद्धि और ममत्वभाव हैं उनको छोड़कर मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति रूप से विशुद्ध ज्ञान तथा दर्शन स्वभाव का धारक निज आत्मा है उसमें जो निवास करना है वही अमूढदृष्टि नामा गुण है। पुत्र तथा स्त्री आदि जो बाह्य पदार्थ हैं उनमें "ये मेरे हैं" ऐसी कल्पना करने को संकल्प कहते हैं और अंतरंग में "मैं सुखी हूं मैं दुखी हूं" इस प्रकार के हर्ष वा खेद का करना सो विकल्प है। अथवा यथार्थ रूप से जो संकल्प है वही विकल्प है अर्थात् संकल्प के विवरण रूप से विकल्प संकल्प का पर्याय रूप ही हैं।

यद्यपि भेद अभेद रत्नत्रय की भावना रूप जो मोक्ष मार्ग है वह स्वभाव से ही शुद्ध है, तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी वा असमर्थ मनुष्य के निमित्त से जो धर्म की चुगली निंदा दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्र के अनुसार शक्ति माफिक धन से अथवा धर्म के उपदेश से जो धर्म के लिये दोषों का ढांकना है तथा दूर करना है उसको व्यवहार उपगूहन अंग या गुण कहते हैं। इस व्यवहार उपगूहन गुण के पालने से विषय में जब एक कपटी ब्रह्मचारी ने श्रीपार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा में लगे हुए रत्न को चुराया उस समय जिनदत्त सेठ ने जो उपगूहन (उस दोष का छिपाना) किया था वह कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। अथवा रूद्र (महादेव) की जो ज्येष्ठा नाम की माता थी उसका जब लोकापवाद हुआ तब उसके दोष के ढंकने में चेलना महारानी की कथा शास्त्र प्रसिद्ध है। इसी प्रकार निश्चय से व्यवहार उपगूहन गुण की सहायता से अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को ढंकने वाले जो रागादि दोष हैं उन दोषों का उसी परमात्मा में सम्यक श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण रूप जो ध्यान है उससे जो ढकना- नाश करना- छिपाना है सो उपगूहन है।

भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय को धारण करनेवाला जो मुनि आर्यिका श्रावक तथा श्राविका रूप चार प्रकार का संघ है उसमें से जो कोई दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के उदय से दर्शन को अथवा चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे उसको शास्त्र की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्मोपदेश श्रवण कराने से, धन से वा सामर्थ्य से अथवा अन्य और किसी उपाय से जो धर्म में स्थिर कर देना है वह व्यवहार से स्थितिकरण गुण है। इस गुण में पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के प्रसंग में वारिषेण कुमार की कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है निश्चय से उसी व्यवहार स्थितिकरण गुण से जब धर्म में

दृढ़ता हो जावे तब दर्शन मोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न जो संपूर्ण मिथ्यात्व रागादि विकल्पों का समूह है उसके त्याग द्वारा निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न परम आनंद रूप सुखामृत रस के आस्वाद रूप जो परमात्मा में लीन अथवा परमात्म स्वरूप समरसी (समता) भाव हैं उससे जो चित्त का स्थिर करना है वही स्थितिकरण गुण है। अब वात्सल्य नामा सप्तम गुण का निरूपण करते हैं।

बाह्य और आभ्यंतर इन दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि आर्यिका श्रावक तथा श्राविका रूप चारों प्रकार के संघ में जैसे गौ अपने बछड़े में प्रीति करती है, उसके समान अथवा पांचों इन्द्रियों के विषयों के निमित्त पुत्र स्त्री सुवर्ण आदि में जो स्नेह रहता है उसके समान अतुल्य स्नेह (प्रीति) का करना वह व्यवहारनय की अपेक्षा से वात्सल्य कहा जाता है। इस विषय में हस्तिनापुर के राजा पद्मराज के बली नामक दुष्ट मंत्री ने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के आराधक अकंपनाचार्य आदि सातसौ मुनियों को उपसर्ग किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधने वाले विष्णुकुमार नामक महामुनीश्वर ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन (ठिगना) रूप को धारण करके बली नामक दुष्ट मंत्री के पास से तीन पग प्रमाण पृथिवी की याचना की जब बली ने देना स्वीकार किया तब एक पग तो मेरू के शिखर पर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर दिया और तीसरे पाद को रखने के लिये अवकाश नहीं रहा तब वचन छल से प्रतिज्ञा भंग का दोष लगाकर मुनियों के वात्सल्य निमित्त बली मंत्री को बांध लिया। यह तो एक आगम प्रसिद्ध कथा है ही और दूसरी वज्रकर्ण नामक दशपुरनगर के राजा की प्रसिद्ध कथा है। और वह इस प्रकार है।

उज्जैनी के राजा सिंहोदर ने, वज्रकर्ण जैनी है और मुझको नमस्कार नहीं करता है ऐसा विचार करके जब वज्रकर्ण से नमस्कार कराने के लिये दशपुर नगर को घेरकर घोर उपसर्ग किया तब भेदाभेद रत्नत्रय की भावना है प्यारी जिनको ऐसी श्रीरामचन्द्रजी ने वज्रकर्ण के वात्सल्य के लिये सिंहोदर को बांध लिया। इस प्रकार यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है। और इसी प्रकार व्यवहार वात्सल्य गुण के सहकारीपने से जब धर्म में दृढ़ता हो जाती है तब मिथ्यात्व रागादि संपूर्ण बाह्य पदार्थों में प्रीति को छोड़कर रागादिः विकल्पों की उपाधि रहित परम स्वास्थ्य के ज्ञान से उत्पन्न सदा आनंद रूप जो सुखामृत का आस्वाद है उसके प्रति प्रीति का करना हो निश्चय वात्सल्य है। इस प्रकार वात्सल्य गुण का कथन किया।

प्रभावना गुण निरूपण-

श्रावक तो दानपूजा आदि से जैन धर्म की प्रभावना करे और मुनि तप ,शास्त्रज्ञान, आदि से जैनधर्म की प्रभावना करे, वही व्यवहार से प्रभावना गुण है ऐसा जानना चाहिये। इस गुण के पालने में उत्तर मथुरा में जिनमत की प्रभावना करने का है स्वभाव जिसका ऐसी उरविला महादेवी को प्रभावना के निमित्त जब उपसर्ग हुवा तब वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमण ने आकाश में जैनरथ को फिराकर प्रभावना की, यह तो एक शास्त्र में प्रसिद्ध कथा है और दूसरी कथा ये है कि उसी भव में मोक्ष जाने वाले हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्ती ने जिनमत की प्रभावना करने का है स्वभाव जिसका ऐसी अपनी माता वा महादेवी के निमित्त और अपने धर्मानुराग से जिनमत की प्रभावना के लिये ऊंचे तोरण के धारक जिन मंदिर आदि से समस्त

पृथिवी तल को भूषित कर दिया। इस प्रकार यह कथा रामायण में प्रसिद्ध है।

निश्चय से इसी व्यवहार प्रभावना के बल से मिथ्यात्व विषय कषाय आदि जो संपूर्ण विभाव परिणाम हैं उन रूप जो परमतों का प्रभाव है उसको नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षण स्वसंवेदन ज्ञान से निर्मलज्ञान, दर्शनरूप स्वभाव के धारक निज शुद्ध आत्मा का जो प्रकाशन अर्थात् अनुभवन करना सो प्रभावना है।

इस प्रकार तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन, आदि आठ दोष रूप पच्चीस मल हैं उनसे रहित तथा शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धान रूप लक्षण का धारक सराग सम्यक्त्व है दूसरा नाम जिसका ऐसा व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये।

इसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा परंपरा से साधने योग्य शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न जो परम आल्हाद रूप सुखामृत रस का आस्वादन है वही उपादेय है और इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं ऐसी रुचि रूप तथा वीतराग चारित्र के बिना नहीं उत्पन्न होने वाला ऐसा वीतराग सम्यक्त्व नाम का धारक निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये। यहां इस व्यवहार सम्यक्त्व के व्याख्यान में निश्चय सम्यक्त्व का वर्णन क्यों किया? ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि व्यवहार सम्यक्त्व से निश्चय सम्यक्त्व साधा जाता है। इस साध्य साधक भाव को अर्थात् व्यवहार, सम्यक्त्व साधक और निश्चय सम्यक्त्व साध्य है। इस बात को बतलाने के लिये किया गया है। भगवान समन्तभद्राचार्य ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवादेवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥28॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- संसार में सम्यग्दर्शन सबसे श्रेष्ठ गुण है वह जिसके पास हो जाता है वह मनुष्य किसी भी वर्ण का हो मान्य हो जाता है। यही बात इस श्लोक में बतलाई गई है कि सम्यग्दर्शन सहित यदि चाण्डाल भी हो तो उसको गणधरादि देव, देव के समान मानते हैं। क्योंकि उस चांडाल को अंतरंग में भगवान जिनेन्द्र के वचनों में पूर्ण श्रद्धा है बाह्य रूप में भले ही वह चाण्डालोचित कार्य करता हो। वह तो अपने अंतरंग में रहने वाले सम्यग्दर्शन गुण से उस तरह दैदीप्यमान होता है जैसे भस्म (राख) से ढंका हुआ अंगार।

प्रश्न- सम्यग्दर्शन ऐसा कौन सा पदार्थ है जिसका व्याख्यान सारे ग्रंथों में पाया जाता है। इसलिये उसके गुण और उसकी महिमा का अच्छी तरह वर्णन कीजिये?

उत्तर- देखो सम्यग्दर्शन की महिमा ऊपर बतला ही दी गई है आगे और भी सुनिये-

दर्शनं ज्ञानचारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥31॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्य माना गया है, क्योंकि सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया (मल्लाह) के समान है। जैसे कोई मनुष्य नाव से बड़ी और गहरी नदी के उस पार जाना

चाहता हो उसके पास नाव तो हो जिसमें बैठकर नदी के उस पार जा सकता हो पर उस नाव को खेकर ले जाने वाला मल्लाह न हो तो वह नौका उस मनुष्य को नदी के उस पार नहीं ले जा सकती। उसी प्रकार मोक्षमार्ग में चलने वाले मनुष्य के पास संसार समुद्र से पार लगाने वाले ज्ञान चारित्र हों लेकिन सम्यग्दर्शन न हो तो वह भव्य संसार समुद्र के किनारे नहीं जा सकता इसीलिये ज्ञान और चारित्र से दर्शन की मुख्यता मानी गई है। और भी बतलाया गया है कि-

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥32॥
[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- सम्यग्दर्शन के न होने पर ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और उनमें फलों की उदय होना नहीं हो सकता है। जैसे बीज के न रहने पर वृक्ष नहीं हो सकते हैं। भाव ये है कि जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि और उस में फलों का उत्पन्न होना असंभव है उसी तरह सम्यग्दर्शन रूपी बीज के अभाव में ज्ञान चारित्र रूपी वृक्ष की न उत्पत्ति हो सकती है न उसकी वृद्धि हो सकती है और न उसमें मोक्ष रूपी फल ही लग सकते हैं। अत एव सम्यग्दर्शन की परमावश्यकता है। और भी बतलाया गया है कि-

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥34॥
[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ-तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन सरीखा कोई पदार्थ जीव का कल्याण करने वाला नहीं है और मिथ्यात्व के समान

अकल्याण करने वाला नहीं है। इसलिये हे भव्यो! मिथ्यात्व का वमन करके शीघ्र से शीघ्र अपने आत्मा में सम्यक्त्व की जागृति करो।

अब जिन जीवों के सम्यग्दर्शन ग्रहण होने के पहिले आयु का बंध नहीं हुआ वे व्रत के अभाव होने पर भी अर्थात् उनके व्रत के न होने पर भी नर नारक आदि निंदनीय स्थानों में जन्म नहीं लेते ऐसा कहने को कहते हैं-

सम्यग्दर्शनशुद्धाः नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुः दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥35॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- जिनकें शुद्ध सम्यग्दर्शन हो गया है ऐसे शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नरक गति और तिर्यंच गति में नहीं उत्पन्न होते हैं नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन शरीर, अल्पायु और दरिद्रीपन को नहीं प्राप्त होते हैं जो सम्यग्दृष्टि जीव देवगति में उत्पन्न होवे तो प्रकीर्णक देव, वाहन देव, किल्विष देव, व्यन्तर देव, भवनवासी देव और ज्योतिषी देवों की पर्याय को छोड़कर अन्य महा- ऋद्धि के धारक देव हैं उनमें उत्पन्न होते हैं।

जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण करने के पहिले ही देवायु को छोड़कर अन्य किसी आयु का बंध कर लिया है उनके प्रति सम्यक्त्व का माहात्म्य कहते हैं-

हेट्ठिमछप्पुढवीणं, जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो, ण सासणो णारया पुण्णे॥128॥

[गोम्मटसार-जीवकांड]

अर्थ- प्रथम नरक को छोड़कर अन्य छह नरकों में, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों में सब स्त्रीलिंगों और तिर्यंचों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता । इसी आशय को अन्य प्रकार से कहते हैं-

ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु ।
तिर्यग्नर-सुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते ॥२२७॥

[संस्कृत-पञ्चसंग्रहः (जीवसमासाख्यः प्रथमः संग्रहः) ; 'बृहद् द्रव्य संग्रह' गाथा 41 की श्री ब्रह्मदेव सूरी की टीका में उद्धृत]

अर्थ- ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवों में, नीचे के ६ नरकों की पृथिवियों में, तिर्यंचों में, मनुष्यनियों और देवांगनाओं में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है। अब औपशमिक, क्षायिक, और वेदक नाम के जो तीन तरह के सम्यक्त्व हैं उनमें से कौनगति में किस सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है यह बतलाया जाता है।

सौधर्मादिष्वसंख्याब्दायुष्कतिर्यक्षु नृष्वपि।
रत्नप्रभावनौ च स्यात्सम्यक्त्वत्रयमङ्गिनाम्॥

['बृहद् द्रव्य संग्रह' गाथा 41 की श्री ब्रह्मदेव सूरी की टीका में उद्धृत]

अर्थ- सौधर्मादिस्वर्गों में, असंख्यात वर्ष की आयु के धारक तिर्यंच और मनुष्यों में अर्थात् भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों में तथा रत्नप्रभा नाम की नरक की पहिली पृथिवी में, जीवों के उपशम, वेदक और क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व होते हैं और जिसने आयु को बांध लिया है अथवा प्राप्त कर लिया है ऐसे कर्मभूमि के मनुष्यों में तीनों ही सम्यक्त्व होते हैं। परंतु विशेष इतना है कि अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व महार्द्धक देवों में ही होता है।

शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु।
द्वौ वेदकोशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम् ।।230।।

[संस्कृत-पञ्चसंग्रहः (जीवसमासाख्यः प्रथमः संग्रहः) ; 'बृहद् द्रव्य संग्रह' गाथा 41 की श्री ब्रह्मदेव सूरी की टीका में उद्धृत]

और शेष (बचे हुए) जो देव और तिर्यंच हैं उनमें तथा छह नीचे की नरकभूमियों में पर्याप्त जीवों के वेदक और उपशम ये दो सम्यक्त्व होते हैं। इस प्रकार निश्चय तथा व्यवहार रूप सम्यक्त्व हैं। उनकी आराधना से और क्या- क्या होता है सो बतलाते हैं कि

जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य गति में उत्पन्न होता है उसका उसके प्रभाव से-

ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥36॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- दीप्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभव मिलते हैं और वे उत्तम कुल वाले, तथा भारी धन के स्वामी होते हैं इन गुणों से युक्त होते हुए भी मनुष्यों में श्रेष्ठ होते हैं।

अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही इन्द्र पद को प्राप्त करते हैं-

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥37॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भगवान जिनेन्द्र के भक्त होते हुए स्वर्ग में इन्द्र भी हो जाते हैं। वहां पर अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, इन आठ ऋद्धियों से विशिष्ट अथवा सन्तुष्ट

और विशेष सुंदरता व वैक्रियक शरीर सहित होते हैं और देवों तथा देवांगनाओं की सभा में बहुत समय तक आनन्द भोगते हैं। अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही चक्रवर्ती पद धारण करता है-

नवनिधिसप्तद्वयरत्ना-धीशाः सर्व-भूमि-पतयश्चक्रम्
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः, क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥38॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ-निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव मरने के बाद सम्यक्त्व के प्रभाव से चक्रवर्ती होकर बत्तीस हजार मुकुट बन्ध राजाओं का स्वामी तथा इतने ही देशों का अधिपति होकर नव निधि चौदह रत्नों का स्वामी षट खण्ड पृथ्वी पर एक छत्र राज्य करता है।

अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही तीर्थंकर होता है-

अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्चनूतपादाम्भोजाः
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥39॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- शुद्ध सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव देवेन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र (चक्रवर्ती) तथा चार ज्ञान के धारी श्री गणधर देव से भी पूजनीय होते हुए तीनों लोकों के जीवों के शरणभूत, धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर होते हैं।

अब बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव इन-इन पदों से विभूषित होता है-

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं।
राजेन्द्र चक्रमवनींद्र शिरोऽर्चनीयम्॥

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं।
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥41॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- जिनेन्द्र देव के भक्त भव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपरिमित देवेन्द्रों के ऐश्वर्य को पाकर तथा राजाओं के द्वारा उनके मस्तकों से पूज्य चक्रवर्ती के पद को पाकर समस्त लोक में उत्तम ऐसे तीर्थंकर पद को भी पाकर धर्मचक्र के धारक होते हुए मोक्ष को भी प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव- धरणेंद्र, राजेन्द्र, देवेन्द्र आदि ऊंची-ऊंची पदवी को पाते हैं सो तो पाते ही हैं, लेकिन तीन लोक का पूज्य ऐसा तीर्थंकर पद पाकर मुक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं यही बड़ा भारी अद्भुत माहात्म्य है।

प्रश्न- यदि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से मोक्ष पा जाता है। तो मोक्ष में जीव की क्या हालत होती है?

उत्तर- नीचे लिखी दशा जीव की मोक्ष में होती है।

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥40॥

[श्री समन्तभद्राचार्य विरचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार']

अर्थ- सम्यग्दृष्टि जीव बुढापा रहित, रोगरहित, क्षयरहित, बाधारहित तथा शोक, भय, शंका रहित, अनंत सुख तथा अनंतज्ञान सहित अपना स्वभाव भाव जो चैतन्य भाव उसी का अनुभवन करता है।

ऐसी हालत सम्यग्दृष्टियों की होती है। सो हे भव्यात्माओ अपने आत्मा की रुचि वा प्रतीति करना कभी मत भूलो। यही तुमको संसार समुद्र के पार ले जाने वाली वस्तु है।

प्रश्न- आपने जो कुछ कहा हमने वह सब अच्छी तरह सुना है और समझा है। परंतु क्या किया जाय हमारे पास जो मन है वह इतना चंचल है वह किसी तरह रूकता ही नहीं कृपा उसके रोकने का उपाय बतलाइये-

उत्तर- मन तो वास्तव में बहुत ही चपल है, उसका रोकना तो बड़े-बड़े ध्यानी और ज्ञानियों से ही हो सकता है। मन की चंचलता के विषय में भाषा समयसार में कहा है कि-

छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन,
छिनकमैं दीन छिनमाँहि जैसौ सक्र है।
लियैं दौर-धूप छिन-छिनमैं अनंतरूप,
कोलाहल ठानत मथान-कौसौ तक्र है॥
नटकौसौ थार किधौं हार है रहटकौसौ,
धार-कौसौ भौंर कि कुंभार-कौसौ चक्र है।
ऐसौ मन-भ्रामक सुथिरु आजु कैसै होई,
ओरहीकौ चंचल अनादि-हीकौ वक्र है॥50॥

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार)]

अर्थ- यह मन क्षणभर में पंडित बन जाता है। क्षण भर में माया से मलीन हो जाता है। क्षणभर में विषयों के लिये दीन होता है। क्षणभर में गर्व से इन्द्र जैसा बन जाता है। क्षणभर में जहां तहां दौड़ लगाता है। और क्षणभर में अनेक वेष बनाता है। जिस प्रकार दही बिलोवने पर छाछ की गडगडी होती है वैसा कोलाहल मचाता है नट का थाल, रहट की माला, नदी की धार का भँवर अथवा कुम्हार के चाक के समान घूमता ही रहता है। ऐसा भ्रमण करने वाला मन आज कैसे

स्थिर हो सकता है। जो मन स्वभाव से ही चंचल और अनादि काल से वक्र है, मन की चंचलता पर तो ज्ञान का ही प्रभाव पड़ता है सो ही बतलाया जाता है-

धायौ सदाकाल पै न पायौ कहूँ साँचौ-सुख,
रूपसौं-विमुख दुःखकूप-वास बसा है।
धरमकौ धाती अधरमकौ संघाती महा-,
कुरापाती जाकी संनिपात-कीसी दसा है॥
मायाकौं झपटि गहै कायसौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रम-भीर मैं बहीर-कौसौ ससा है।
ऐसौ मन-चंचल पताकासौ अंचल सु,
ग्यानके जगेसौं निवारण-पथ धसा है॥51॥

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार)]

अर्थ- यह मन सुख के लिये हमेशा से ही भटकता आ रहा है पर इसने कहीं सच्चा सुख नहीं पाया। अपने स्वानुभव के सुख से विरुद्ध हुवा दुःखों के कुए में पड़ रहा है। ये तो धर्म का घात करनेवाला है, अधर्म का संगी, महा उपद्रवी, सन्निपात के रोगी के समान असावधान हो रहा है। धन संपत्ति आदि को फुर्ति के साथ ग्रहण करता है और शरीर से प्रीति करता है, भ्रमजाल में पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है जैसे शिकारी के घेरे में खरगोश भ्रमण करता है यह मन पताका समान वस्त्र के समान चंचल है। वह तो ज्ञान का उदय होने से मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है।

प्रश्न- यदि मन ऐसा चंचल है तो उसके स्थिर करने का क्या उपाय है?

उत्तर- उसके स्थिर करने का उपाय निम्न छंद में बतलाया है सो ध्यान में लो-

दोहा

जो मन विषै-कषायमैं, वरतै चंचल सोइ।
जो मन ध्यान-विचारसौं, रुकै सु अविचल होइ।। 52।।

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार)]

अर्थ- जो मन पांचों इन्द्रियों के विषय सेवने की तरफ और क्रोधादि कषायों में उलझा रहता है वह सदा चंचल रहता है और आत्मा के स्वरूप चिंतवन में लगा रहता है वह स्थिर हो जाता है। फिर छंद-

तातैं विषै-कषायसौं, फेरि सु मन को बांनि।
सुद्धातम अनुभौ-विषैं, कीजै अविचल आनि।। 53।।

[कविवर बनारसीदास जी विरचित 'नाटक समयसार' (बंध द्वार)]

अर्थ- इससे मन की प्रवृत्ति विषय कषाय से हटाकर उसे शुद्धात्मा के अनुभव की ओर लाओ और स्थिर करो। सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य प्रवर नेमिचंद्रजी ने कहा है कि-

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह।।57।।

[श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित 'द्रव्यसंग्रह']

अर्थ- क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यान रूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है। इसलिये हे भव्यजन हो तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिये निरंतर तप,श्रुत और व्रत इन तीनों में तत्पर रहो। मतलब ये है कि मन चंचल तभी रहता है जब वह विषय कषायों में उलझा रहता उसी मन को यदि अनशनादि तप, श्रुतज्ञान

और अहिंसादि व्रतों की तरफ झुका दिया जाता है तो वह धीरे-२ स्थिर होने लगता है। यदि उसकी स्थिरता होने लग जायेगी तो आत्मस्वरूप के चिंतवन में दृढता होने लग जायेगी।

प्रश्न- हे भगवन्! ध्यान तो मोक्षप्राप्ति का कारण है और व्रत का धारण करना पुण्यबंध का कारण है। पुण्य बंध संसार ही में रखने का हेतु है, पुण्य से देवगति आदि के वैषयिक सुख ही मिल सकते हैं और उनसे पुनः कर्मों का बंध होता है इसलिये व्रत तो त्याज्य ही है उसको ध्यान धारण करने में कारण क्यों बतलाया है? सो कृपाकर समझाइये।

उत्तर- तुमने कहा सो ठीक है लेकिन केवल व्रत ही त्यागने योग्य है ऐसा नहीं है, किंतु पापबंध के कारण हिंसादि अव्रत भी त्यागने योग्य हैं। इसी बात को पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि-

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

[श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद स्वामी विरचित 'समाधी तंत्र']

अर्थ- हिंसा आदि अव्रतों से पापबंध होता है तथा अहिंसादि व्रतों से पुण्य का बंध होता है। पाप पुण्य इन दोनों के नाश करने से मोक्ष मिलता है। इसलिये मोक्ष को चाहनेवाला पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है उसी तरह व्रतों का भी त्याग करे।

विशेष इतना है कि मोक्षार्थी पुरुष पहिले अव्रत का त्याग करके बाद में व्रतों का धारक होकर निर्विकल्प समाधि रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनंतर एकदेश भी त्याग कर देता है। यह भी उन्हीं पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा है कि-

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्याज्जेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

[श्रीमद् देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद स्वामी विरचित 'समाधी तंत्र']

अर्थ- मोक्ष को चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर आत्मा के परम पद को पावे और उस आत्मा के परम पद को पाकर उन व्रतों का भी त्याग करे। इस कथन में भी विशेषता ये है कि मन वचन काय की गुप्ति रूप और निज शुद्ध आत्मा के ज्ञान स्वरूप जो निर्विकल्प ध्यान है उसमें व्यवहार रूप प्रसिद्ध जो एकदेशव्रत है उसका तो त्याग किया है। और संपूर्ण शुभ तथा अशुभ की निवृत्तिरूप जो निश्चयव्रत है उसको स्वीकार ही किया है, त्याग नहीं किया है। प्रसिद्ध जो अहिंसादि महाव्रत हैं वे एकदेश रूप कैसे हो गये! इस शंका का समाधान ऐसा है कि अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात से निवृत्ति है तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रतादि में जानना चाहिये। इस एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पांचों महाव्रत देशव्रत हैं। इसी प्रकार देशरूप व्रतों का मन वचन और काय की गुप्ति स्वरूप जो विकल्प रहित ध्यान है उस (ध्यान) के समय में त्याग है। और संपूर्ण शुभ और अशुभ की निवृत्ति रूप जो निश्चयव्रत है उसका त्याग नहीं है।

प्रश्न- त्याग शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर- जैसे हिंसा आदि रूप पांच अविरतों में निवृत्ति है उसी प्रकार अहिंसादि पंच महाव्रत रूप एकदेश व्रत हैं उनमें निवृत्ति है, यही यहां त्याग शब्द का अर्थ है। इन एकदेश व्रतों का त्याग किस कारण से होता है? यदि ऐसा पूछो तो उत्तर ये है कि मन वचन काय की

गुप्तिरूप जो अवस्था है उसमें प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप जो विकल्प उसका स्वयं ही अवकाश नहीं है, अर्थात् मन वचन काय की गुप्तिरूप ध्यान में किसी प्रकार का भी विकल्प नहीं होता है, अहिंसादि महाव्रत तो विकल्प रूप हैं इसलिये वे त्रिगुप्ति रूप ध्यान में नहीं रह सकते हैं। जो दीक्षा के पश्चात् दो घड़ी प्रमाण काल में ही श्री भरतचक्रवर्ती मोक्ष पधारे हैं। उन्होंने भी जिनदीक्षा को ग्रहण करके क्षणमात्र विषय कषायों से रहित होकर जो व्रत का परिणाम है उसको प्राप्त करके तत्पश्चात शुद्धोपयोग रूप जो रत्नत्रय उस स्वरूप जो निश्चयव्रत नाम का धारक और वीतराग सामायिक नाम का धारक निर्विकल्प ध्यान है उसमें स्थित होकर केवलज्ञान को प्राप्त किया है परंतु श्रीभरतजी के जो थोड़े समयव्रत परिणाम रहा इस कारण लोग श्रीभरतजी के व्रत परिणाम को नहीं जान सके हैं। अब उसी श्रीभरतजी की दीक्षा के विधान का कथन कहा जाता है-

श्रीवीर वर्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेव के समोसरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि हे भगवन श्रीभरत चक्रवर्ती को जिनदीक्षा ग्रहण करने के पीछे कितने काल में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ? इस पर श्री गौतमस्वामि गणधर देव ने उत्तर दिया कि- हे राजन् श्रेणिक बंध के कारणभूत जो केश हैं उनको पांच मुष्टियों से उपाडकर तोड़ते हुए ही अर्थात् पंच मुष्टि लौंच करने के बाद ही श्री भरत चक्रवर्ती केवल ज्ञान को प्राप्त हुए। अब यहां पर शिष्य कहता है कि भो गुरो इस पंचम काल में ध्यान नहीं है। क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस काल में उत्तम संहनन का अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन का अभाव है। और दश तथा चौदह पूर्व पर्यंत श्रुतज्ञान का अभाव है!

उत्तर- आचार्य महाराज शिष्य की शंका का उत्तर देते हैं कि हे शिष्य! इस समय में शुक्लध्यान नहीं है परंतु धर्मध्यान तो है ही। इसी बात को स्वामी कुंदकुंदाचार्य अपने मोक्षप्राभृत में कहते हैं कि-

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी॥76॥
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्झाऊण लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥77॥

[श्री कुंदकुंद आचार्य देव विरचित 'मोक्षपाहुड' (अष्टपाहुड);
बृहद् द्रव्य संग्रह' गाथा 57 की श्री ब्रह्मदेव सूरी की टीका में उद्धृत]

अर्थ- भरत क्षेत्र में इस पंचम काल में ज्ञानी जीवों के धर्मध्यान है उसको जो कोई आत्मा के स्वभाव में स्थित नहीं मानता है वह अज्ञानी है। क्योंकि इस समय भी जो समयग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय है उससे शुद्ध हुए जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपने को अथवा लौकांतिक देवपने को प्राप्त होते हैं और वहां से चय कर नर पर्याय को ग्रहण करके उसी भव में मोक्ष को चले जाते हैं। इसी प्रकार तत्त्वानुशासन नामक ग्रंथ में भी कहा है कि-

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्॥

[श्री नागसेन मुनि विरचित 'तत्त्वानुशासन' ;
बृहद् द्रव्य संग्रह' की श्री ब्रह्मदेव सूरी की टीका में उद्धृत]

अर्थ- इस समय इस पंचम काल में श्रीजिनेंद्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं अर्थात् इम समय में शुक्लध्यान नहीं होता है ऐसा उपदेश देते हैं और उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी इन दोनों श्रेणियों से

पहिले रहनेवाले गुणस्थानों में जीवों के धर्मध्यान होता है ऐसा कथन करते हैं।

ऐ भव्य तुमने जो ऐसा कहा है कि इस पंचमकाल में उत्तम संहनन के न होने से ध्यान नहीं हो सकता हैं सो ये वचन तो उत्सर्ग वचन है अपवाद रूप व्याख्यान से तो दो उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी में शुक्लध्यान होता है, और वह उत्तम संहनन से ही होता है। आठवें गुणस्थान के नीचे धर्म ध्यान ही होता है, और धर्मध्यान आदि के तीन संहनन के अभाव में भी होता है। इस प्रकार संक्षेप रूप से धर्मध्यान के वर्णन में ध्यान की सामग्री बतलाई। अब शुक्लध्यान के चार पायों का संक्षेप में वर्णन किया जाता है-

जत्थ गुणा सुविसुद्धा उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं ।
लेसा वि जत्थ सुक्का तं सुक्कं भण्णदे झाणं ॥४८३॥
[श्री स्वामी कार्तिकेय विरचित 'श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा']

अर्थ- जिस ध्यान में अच्छी तरह विशुद्ध व्यक्त कषायों के अनुभव रहित उज्ज्वल गुण ज्ञानोपयोगादि हों, तथा कर्मों का जहां उपशम और क्षय हो, जहां लेश्या भी शुक्ल ही हो उसको शुक्लध्यान कहते हैं!

इस प्रकार सामान्य रूप से शुक्ल ध्यान का स्वरूप कहा गया है। कर्मों के उपशमन और क्षमण का विधान अन्य ग्रन्थों में लिखा है सो वहां से जानना चाहिये। सामान्यतया यहां भी कहा गया है जो आगे लिखा जाता है- शुक्लध्यान चार प्रकार का होता है- १) पृथकत्ववितर्क २) एकत्ववितर्क ३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ४) व्युपरतिक्रियानिवृत्ति। यहां क्रम ऐसा जानना चाहिये। पहिले मिथ्यात्व तीन, कषाय अनंतानुबंधी चार इन सात प्रकृतियों का उपशम तथा क्षय करके सम्यग्दृष्टि हो।

पीछे अप्रमत्त गुणस्थान में सातिशय विशुद्धता सहित होकर श्रेणी का प्रारंभ करें, तब अपूर्वकरण गुणस्थान हो, यहीं पर शुक्लध्यान का पहिला पाया प्रवर्तता है। यहां जो मोह की प्रकृतियों के उपशमाने का प्रारंभ करे तो अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय इन तीनों गुणस्थानों में समय-समय अनंतगुणी विशुद्धता से बढ़ता हुआ मोहनीय कर्म की शेष इक्कीस प्रकृतियों का उपशमकर उपशांत कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। यदि मोहकर्म के क्षपाने का प्रारंभ करे तो ऊपर कहे गये तीनों गुणस्थानों में मोहकर्म की इक्कीस प्रकृतियों का सत्ता में से नाशकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त हो जावे। इस प्रकार शुक्लध्यान का पहिला पाया पृथक्त्ववितर्क वीचार नाम का प्रवर्तता है। पृथक् माने अलग अलग वितर्क माने श्रुतज्ञान के अक्षर और अर्थ, और वीचार माने अर्थ व्यञ्जन और योगों का पलटना ये तीनों बातें इस पहिले शुक्लध्यान में होती हैं। इनमें अर्थ माने द्रव्य, गुण और पर्याय इनका पलटना अर्थात् द्रव्य से द्रव्यांतर, गुण से गुणांतर तथा पर्याय से पर्यायान्तर का होना। एवं वर्ण से वर्णांतर तथा योग से योगांतर का पलटना होना वह इस प्रकार कि ध्याता अपने ध्यान में द्रव्य का ध्यान करे, द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करे, फिर पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करे यह अर्थसंक्रांति है। श्रुत के किसी एक वचन का अवलंबन करे उसको छोड़कर किसी दूसरे का अवलंबन करे सो व्यञ्जनसंक्रांति है। काययोग को छोड़कर अन्य योग का अवलंबन करे और उसको भी छोड़कर दूसरे योग को ग्रहण करे सो योगसंक्रांति है। ऐसे परिवर्तन या पलटाव का नाम वीचार है। इस शुक्लध्यान के आरंभ में ऐसी सामग्री होती कि यदि उत्तम शरीर के संहनन से परीषहों की बाधा के सहने की शक्ति रूप अपने आत्मा

को जान लेवे तब ध्यान करने का आरंभ करे। कैसे आरंभ करे सो कहते हैं- पर्वत की गुफा, कंदरा, वृक्ष के कोटर, नदियों के किनारे, श्मशान, पुराने बगीचे, शून्यगृहादि में से कोई एकस्थान ध्यान करने के योग्य हो सकता है। तथा जो सर्प मृग पशु पक्षी मनुष्यादिकों के रहने का स्थान नहीं हो, तथा उस स्थान में उत्पन्न हुए हों अथवा अन्य स्थान से आये हों ऐसे द्वीन्द्रियादि जीवों से रहित हों, जहां अतिगर्मी की ऊष्मा न हो, जहां हवा का अत्यंत बहाव न हो, अतिवर्षा की बाधा न हो, बहुत बड़ा न हो, बाह्य आभ्यंतर रूप से विक्षेप का करनेवाला न हो ऐसा योग्य स्पर्श सहित पवित्र पृथ्वी पर सुखरूप रहता हुआ बांधा है पर्यंकासन जिसने, शरीर को सरल रूप कठोरता वक्रता रहित करके अपने गोद में बायें हाथ की हथेली पर दक्षिण हाथ की हथेली रखकर, नेत्रों को अत्यंत उघाड़े नहीं और न इकदम मीच लेवे, दांतों से दांत का अग्रभाग मिला हुवा रहे, मुख कुछ उठा हुआ हो, मध्यभाग पेट सरल हो, कठोरता रहित हो, परिणामों से मस्तक ओष्ठ गंभीर हो, मुखाकृति प्रसन्न हो, नेत्र टिमकार रहित हो, स्थिर और सौम्यदृष्टि वाला हो, निद्रा, आलस्य, काम, राग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय द्वेष, विचिकित्सा से रहित हो, जिसके श्वासोच्छवास का प्रचार मंद मंद हो इत्यादि परिकर सहित साधु मन की वृत्ति को नाभि के ऊपर बाह्य हृदय में या मस्तक में या और कोई दूसरे स्थान में जहां पहिले से परिचय कर रक्खा हो वहां रोक कर निश्चल मोक्षाभिलाषी होता हुवा उत्तम ध्यान को ध्यावे। उस ध्यान में एकाग्र मन होकर उपशम कर दिया है राग द्वेष मोह जिसने, अच्छी तरह रोकी है शरीर हलन चलन क्रिया जिसने, मंद किया है श्वासोच्छवास जिसने, अच्छी तरह निश्चल किया है अभिप्राय जिसने, तथा क्षमावान होकर, बाह्य आभ्यन्तर द्रव्य पर्यायों का ध्यान करता

हुवा, ग्रहण किया है श्रुतज्ञान का सामर्थ्य जिसने, ऐसे अर्थ- अक्षर में, तथा काय वचन में भिन्न भिन्न परिभ्रमण करने वाला, ऐसा ध्यान का ध्याता, बल के उत्साह से रहित व्यक्ति की तरह अनिश्चल मन से जैसे भोथरे हथियार से बहुत काल में वृक्ष छेदा जाय उसी तरह मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय करता हुवा साधु पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान का ध्याने वाला होता है।

अब इसी विधि से मूल सहित संपूर्ण मोहनीय कर्म को दग्ध कर देने से अनंतगुणे विशुद्ध योग का आश्रय करके ज्ञानावरण की सहायभूत बहुत सी प्रकृतियों के बंध को रोकता हुवा स्थिति को घटाता तथा क्षय करता हुवा श्रुतज्ञान के उपयोगसहित होता हुआ वैडूर्य मणि की तरह कर्ममल के लेप से रहित होता हुआ, ध्यान करके फिर पीछे नहीं फिरता इसी से इसको एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहते हैं।

इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जला दिया है घातिया कर्मरूपी ईंधन जिसने, तथा दैदीप्यमान प्रगट हुआ है केवलज्ञान रूप सूर्य जिसके, ऐसा जैसे मेघपटल छिपा हुआ सूर्य मेघपटल के दूर होते ही प्रगट हो जाता है, पीछे अपनी प्रभा से प्रकाशमान हो जाता है, उसी प्रकार आवरण कर्म के दूर होते ही अपनी प्रभा से प्रकाशमान भगवान तीर्थंकर तथा अन्य केवली, लोकेश्वर जो इन्द्रादिक उनसे वंदनीय पूजनीय हो जाते हैं सो उत्कृष्टता से कुछ कम कोटिपूर्व की आयु प्रमाण आर्य देशों में विहार करते हैं।

यदि आयु का अंतर्मुहूर्त बाकी रह जाय और वेदनीय नामकर्म, गोत्रकर्म की स्थिति भी अंतर्मुहूर्त की ही हो तब सब वचन मन का

योग और वादर काययोग का अवलंबन लेकर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान को प्राप्त होने के योग्य होता है। यदि आयुकर्म की स्थिति तो अंतर्मुहूर्त की हो और वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मों की स्थिति अधिक हो तो योगी अपने आत्मप्रदेशों को चार समय में दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण रूप करके चार समयों में ही प्रदेशों का संकोचकर चारों की स्थिति को अंतर्मुहूर्त प्रमाण आयु की स्थिति के समान करके पूर्व शरीर प्रमाण होकर सूक्ष्मक्रिया से अप्रतिपात ध्यान को प्राप्त होकर पीछे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यान का आरंभ करता है।

इस अवसर में श्वासोच्छवास का प्रचार, संपूर्ण मन वचन काय के योग, संपूर्ण आत्मा के प्रदेशों की हलन चलन रूप-क्रिया का निषेध हो जाता है इसलिये इस ध्यान को समुच्छिन्नक्रियानिवृति ध्यान कहते हैं।

इस समुच्छिन्नक्रियानिवृति ध्यान के होते ही संपूर्ण आस्रव और बंध का निरोध और बाकी के संपूर्ण कर्मों के नाश करने की शक्ति प्रगट हो जाने से अयोगकेवली संपूर्ण संसार के दुःख का नाश करने वाला साक्षात मोक्ष का कारण संपूर्ण यथाख्यातचरित्ररूप ज्ञान दर्शन की परिपूर्णता हो जाती है। वह भगवान अयोगकेवली उस समय ध्यानरूपी अग्नि से जला दिया है संपूर्ण कर्ममलकलंक का बंध जहां पर जैसे किट्टीकालिमा रहित जातिवान सुवर्ण निर्मल हो जाता है उसी तरह शुद्धरूप को पाकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि यथाख्यात चारित्र तो पहिले बारहवें गुणस्थान में ही हो चुका है परन्तु चारित्र की पूर्णता जो चौरासी लाख उत्तरगुण और अठारह हजार शील हैं उनकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अंत में ही होती है इसीलिये यथाख्यातचारित्र

की पूर्णिता यहां लिखी गई है। यथाख्यात चारित्ररूप ज्ञानदर्शन ही का परिणमन हुआ है यदि पहिले ही रत्नत्रय पूर्ण हो गया होता तो मोक्ष भी उसी समय हो जाना चाहिये इसलिये जहां रत्नत्रय की पूर्णता भई उसी समय मोक्ष हो जाता है ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार चारों ध्यानों के सोलह भेदों का वर्णन सुनाया गया। अब आपको प्रकरण में लाकर फिर बतलाया जाता है कि जिस ध्यान के करने के लिये मन के स्थिर रहने की जरूरत है उस मन की चंचलता दूर करने के लिये प्राणायाम (धारणा- धेय) का अवलंबन करना चाहिये। उसका ज्ञानार्णव में इस प्रकार वर्णन किया है सो ही बतलाया जाता है-

प्राणायाम- पवन के साधने की क्रिया है। जो शरीर में तालु, मुख, नासिका के द्वारा श्वासोच्छवास आता जाता है वह हवा सदा चलती ही रहती है। इसी के निमित्त से यह मन भी हमेशा चंचल बना रहता है। इसलिये जिससे ये मन चंचल बना रहता है उस हवा के रोकने का उपाय करना चाहिये यदि हवा रुक जायगी तो मन की चंचलता भी नहीं रहेगी इससे उस हवा को वश में करने के उपाय को ही प्राणायाम कहा है। उसकी विधि निम्नलिखित है-

पवन के स्तंभन का उपाय-

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्॥1344॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-3)]

अर्थ- पूर्वाचार्यों ने पवन के व्यापारक स्तंभन रूप प्राणायाम को लक्षण भेद से तीन प्रकार का कहा है। १) पूरक २ कुम्भक ३ रेचक।

अब इनका पृथक् २ लक्षण कहा जाता है।

पूरक का लक्षण-

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः॥1347॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-4)]

अर्थ- बारह अंगुल दूर से खेचंकर तालु के छिद्र से पवन को अपनी इच्छा के अनुसार अपने शरीर में पूर्ण करै ऐसे पवन को पूरक कहते हैं।

कुंभक प्राणायाम का लक्षण-

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपंकजे।
कुंभवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्त्तितः॥1348॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-5)]

अर्थ- उस पूरक किये हुए पवन को स्थिर करके नाभि रूपी कमल में जैसे घड़े को भरता है उस तरह रोक लेवे, नाभि के सिवाय अन्य स्थानों में नहीं चलने देवे उसको कुम्भक कहते हैं।

रेचक प्राणायाम का लक्षण-

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छवसनं शनैः।
स रेचकः इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे॥1349॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-6)]

अर्थ- जो पवन कुम्भक किया हुआ है, अपने कोष्ठ में ठहरी हुई है उस पवन को अत्यंत प्रयत्न से मंद - मंद बाहर निकाले। ऐसी क्रिया को

पवनभ्यास के शास्त्र के जानने वाले विद्वानों ने रेचक ऐसा नाम कहा है। नाभि स्कंध से निकला हुआ तथा हृदय कमल में से होकर तालूरंध्र में विश्रांत हुआ जो पवन है उसे परमेश्वर जानो, क्योंकि यह पवन का स्वामी है।

इस प्रकार का पवन जो ईश्वर तालूरंध्र में विश्रांत हुआ है। अर्थात् ठहरा हुआ है उसका चार कहिये चलना याने भ्रमण करना और गति गमन) तथा आत्मा की (जीव की)संस्था अर्थात् देह में सदा रहना इसको जानकर काल का प्रमाण, आयु, बल, शुभ तथा अशुभ फल के उदय का विचार करे।

अत्राभ्यासं प्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम्।
कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रत्नाथस्य चेष्टितम्॥1352॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-9)]

अर्थ- ऊपर कहे हुए पवन के अभ्यास को निष्प्रमादी होकर बड़े प्रयत्न से करता हुआ योगी जीव की समस्त चेष्टाओं को जान लेता है।

विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्त्तते।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते॥1356॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-11)]

अर्थ- तालूरंध्र से हृदय कमल की कर्णिका में पवन के साथ चित्त को स्थिर करने पर मन में विकल्प नहीं उठते और विषयों की आशा भी नष्ट हो जाती है। तथा अंतरंग में विशेष ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इस प्रकार पवन के साधन से मन वश में हो जाता है यही इसका फल है।

कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम्।
का मडलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुद्ध्यते॥1358॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-13)]

अर्थ- इस पवन के साधने से इस प्रकार जान लिया जाता है कि श्वासरूप पवन का कहां तो विश्राम है! कितनी नाडियां हैं? और वे कौन-कौन हैं? उन नाडियों का पलटना किस प्रकार होता है? इसकी मंडलगति कौन सी है? इस की प्रवृत्ति कहां है! इस प्रकार के अनुभव से जो प्रणायाम (पवनमंडल) का चतुष्टय है उसका भी निश्चय हो जाता है। आगे उस वायुमंडल चतुष्टय का स्वरूप कहते हैं-

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम्।
पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः॥1361॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-16)]

नासिका छिद्र को आश्रित होकर मंडल चतुष्टय अर्थात् पृथ्वीमंडल, जलमंडल, अग्निमंडल और वायुमंडल लक्ष्य लक्षण के भेद से चार प्रकार होकर भिन्न-भिन्न पवन से वेष्ठित है।

यह मंडल चतुष्टय अचिंत्य हैं- चिंतवन में नहीं आता ऐसा दुर्लक्ष्य है। इस प्राणायाम के भारी अभ्यास से कोई प्रकार स्वसंवेद्य (अपने अनुभव गोचर) हो जाता हैं।

तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम्।
मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्निमंडलम्॥1363॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-18)]

अर्थः इन चारों में से पहिला मंडल पार्थिव मंडल जानना चाहिए दूसरा वरुणमंडल (जलमंडल) जानना जा चाहिये तीसरा वायुमंडल और चौथा अभिमंडल (तेजो- मंडल) जानना चाहिये। इस प्रकार इनका अनुभव जानना चाहिये अब इन चारों का पृथक्- २ लक्षण कहा जाता हैं।

पृथिवीमंडल स्वरूप

१) गलाये तपाये सुवर्ण के समान पीली जिसकी प्रभा हो, वज्र के चिन्ह से चिन्हित हो, चौकोर हो, नासिका के छिद्र से भले प्रकार भरा गया हो, कुछ उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकलता हो, स्वस्थ, चपलता रहित, मंद-२ बहता इन्द्र जिसका स्वामी हो इस प्रकार के पवन को पृथिवीमंडल जानना चाहिये

२) अर्ध चंद्रमा के समान सफेद, स्फुरायमान अमृत रूप जल से सींचा हुआ, शीघ्रता से बहने वाला, कुछ निचाई लिये बहता हो, शीतल हो, उज्वल हो, दीप्ति रूप हो, बारह अंगुल बाहर आता हो इस प्रकार के चिन्होंवाला वरुणमंडल होता है।

३) जो पवन सब तरफ बहता हो, विश्राम न लेकर सब तरफ बहता ही रहे, तथा जो छह अंगुल बाहर आवे, कृष्ण वर्ण हो, शीत भी हो, उष्ण भी हो, इन चिन्हों से पवन मंडल संबन्धी पवन पहिचाना जाता है!

४) अग्निमंडल- अग्नि के स्फुलिंगों के समान पीकर्ण हो, रौद्र रूप हो, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला, ज्वाला के सैकडों फुलिंगे जिसमें से निकल रहे हों, त्रिकोणाकार, स्वस्तिक चिन्हों से चिन्हित अग्निमंडल होता है।

तथा जो ऊगते हुए सूर्य की दीप्ति के समान रक्तवर्ण, जो ऊंचा चलता हो, आवर्ती (चक्रों)सरीखा फिरता हुआ जो चलता रहता हो, चार अंगुल बाहर आवे, जो अति उष्ण हो ऐसे मंडल को अग्निमंडल कहते हैं।

इन मंडलों के शुभाशुभ कार्य कहते हैं।

स्तंभादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु।
चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः॥1373॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-28)]

अर्थ- स्तंभन आदि कार्य करने को पृथ्वीमंडल शुभ है, जलमंडल का पवन सब कार्यों में शुभ है। पवनमंडल का पवन जल और मलिन कार्य में शुभ है, वश्यकरणादि कार्य में अग्निमंडल का पवन श्रेष्ठ है।

अब इन चारों मंडलों के पवन का और खुलासा करते हैं-

महेंद्र पवन (पृथ्वीमंडल का पवन, छत्र, गज, तुरंग, चामर, स्त्री, राज्यादिक संपूर्ण कल्याणों को कहता है) वरुण पवन जीव की विद्यावीर्यादि विभूति सहित तथा पुत्र स्त्री आदि में जो सार वस्तु है उसको जोड़ता है। अग्निमंडल का पवन दाहस्वभाव रूप है। यह जीवों को भय, शोक, दुःख, पीडा तथा विघ्न समूह की परंपरा और विनाशादि कार्यों को प्रगट करता है। पवनमंडल के पवन के बहने पर जो सेवा कृषि आदिक समस्त कार्य सिद्ध होते हैं वे नाश को प्राप्त हो जाते हैं। मृत्यु भय कलह, बैर तथा त्रासादिक को प्राप्त करा देता है।

इन पवनों के प्रवेश तथा निःसरण के विषय में कहते हैं

सर्वे प्रवेशकाले कथयन्ति मनोगतं फलं पुंसाम्।

अहितमतिदुःखानिचितं त एव निःसरणवेलायाम्॥1378॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-33)]

अर्थ- ये चारों ही मंडल प्रवेशकाल में, नासिका से बाहर आकर उल्टे प्रवेश करते हैं तब पुरुषों के मनोगत फल को कहते हैं उससे मन में विचार किया हुआ कार्य सिद्ध हो जाता है। परंतु यही चारों पवन निकलने के समय अतिशय दुःख से भरे हुए अहित को प्रगट करते हैं। और-

सर्वेऽपि प्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम्॥1379॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-34)]

अर्थ- ये चारों ही प्रकार के पवन सूर्य और चंद्रमा के मार्ग से दाहिने और बायें निरंतर प्रवेश करते हुए उत्कृष्ट सुख की अवस्था को करते हैं। और निकलते समय दुख- अवस्था को प्रगट करते हैं।

वामेन प्रविशन्तौ वरुणमहेन्द्रौ समस्तसिद्धिकरौ।
इतरेण निःसरन्तौ हुतभुक्पवनौ विनाशाय॥1380॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-35)]

अर्थ- वरुण और महेन्द्र पवन बाई तरफ से प्रवेश करते हैं तो सब कार्यों को सिद्ध करते हैं। तथा अग्निमंडल और पवनमंडल के पवन दाहिनी तरफ से निकलते हैं सो विनाशकारी होते हैं।

वामायां विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ।
वरुणेन्द्रावितरस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ॥1382॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-37)]

अर्थ- अग्निमंडल तथा वायुमंडल का पवन बाई तरफ से बढ़ता हुवा मध्यमफल को कहता है, और वरुण तथा महेन्द्र मंडल के पवन दाहिनी तरफ से यदि बहते हैं तो मध्यम फल को कहते हैं

अथ मंडलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य।
उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम्॥1381॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-36)]

अर्थ- चारों मंडलों में पवन के प्रवेश और निःसरण का निश्चय करके ध्यानी पुरुष जगतभर में जो पदार्थ हैं उन सब की सब प्रकार की चेष्टाओं का उपदेश कर देता है।

पवन की थोड़ी और विशेष विधि का उपदेश-

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयः श्लाध्यः॥1383॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-38)]

अर्थ- शुक्ल पक्ष में सूर्योदय के समय नाडी बाई तरफ बहती हुई प्रशस्त है। कृष्णपक्ष में उदयकाल में दहनी तरफ बहती हुई नाडी श्रेष्ठ है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा का तीन तीन दिन का उदय प्रशंसनीय माना गया है।

भावार्थ- शुक्लपक्ष प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया के दिन प्रातःकाल ही वाम स्वर अच्छा है फिर तीन दिन दाहिना स्वर अच्छा है, फिर तीन दिन वायां, इसी प्रकार पूर्णिमा पर्यंत स्वरों का तीन तीन दिन चलना शुभ है। कृष्णपक्ष प्रतिपदा, द्वितीया तृतीया के दिन दाहिना स्वर चलना श्रेष्ठ है, फिर तीन दिन वांया स्वर, फिर तीन दिन दाहिना स्वर,

इस तरह अमावस तक तीन तीन दिन तक स्वरों का चलना श्रेष्ठ माना गया है। इस क्रम के विरुद्ध स्वरों का चलना अशुभ है।

आगे और भेदाभेद बतलाते हैं-

इडा वांयां अंग है पिंगल दाहिनी जान।
दोऊ स्वर मिलकर चल सुखमण नाम बखान॥

अर्थ- इडा नाम की नाडी को चन्द्र नाडी भी कहते हैं। पिंगला नाम की नाडी को सूर्य नाडी कहते हैं तथा दाहिनी और वांई ओर के जब दोनों स्वर मिश्र रूप से चलते हैं तब उसको सुखमणा कहते हैं।

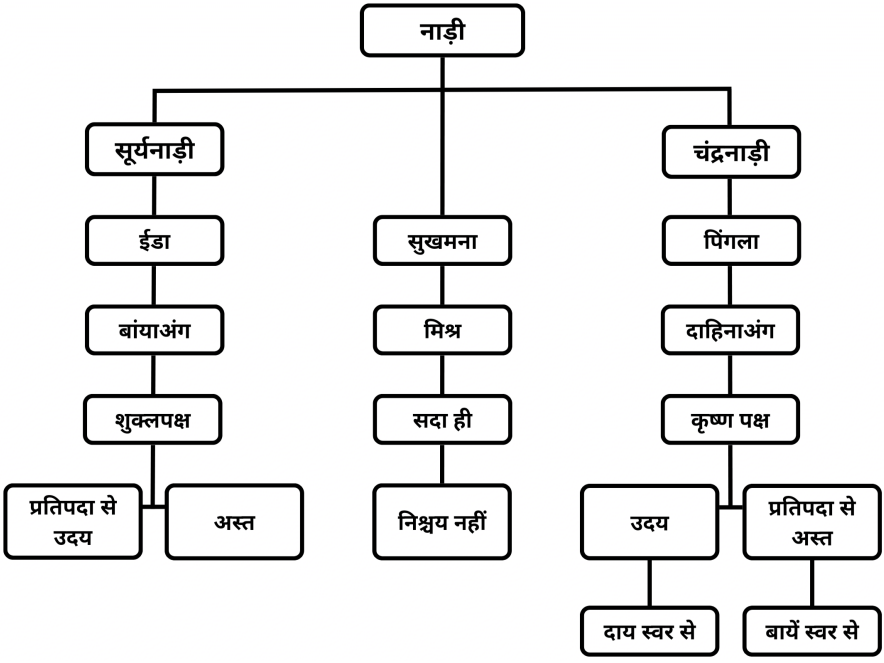

नाक के दोनों श्वरों से पवन खेचने वाले द्वार को नाडी कहते हैं। उनके स्वरूप का नकशा इस प्रकार है-

उदयश्चन्द्रेण हितः सूर्येणास्तं प्रशस्यते वायोः।
रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम्॥1384॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-39)]

अर्थ- पवन का उदय चन्द्रमा के बायें स्वर से सदा शुभ है। और अस्त सूर्य स्वर से (दहिने स्वर से) प्रशस्त कहा गया है। और सूर्य- दाहिने स्वर से उदय हो तो शशिक (बायें) स्वर से अस्त होना जीवों को सदा कल्याणकारी है।

अब शुभ अशुभ सूचक विचार कहते हैं-

व्यस्तः प्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवनः।
धनहानिकृद् द्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीयेऽह्नि ॥1386॥
इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशास्तथा महायुद्धम्।
दुःखं च पञ्च दिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥1387॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-41,42)]

अर्थ- पवन प्रथम दिवस में व्यस्त (विपरीत) बहै तो चित्त को उद्वेग होता है। यदि दूसरे दिन विपरीत बहै तो धनहानि की सूचना करता है। तीसरे दिन विपरीत चले तो परदेश गमन कराता है। यदि पांच दिन तक विपरीत चलता रहे तो क्रम से १ इष्टप्रयोजन का नाश २ विभ्रम ३ अपने पद से भ्रष्ट होना ४ महायुद्ध और ५ दुख इन पांच प्रकार के फलों को देता है। इसी प्रकार आगे के पांच-पांच दिनों के फल को विपरीत अर्थात् अशुभ जानना चाहिये।

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका॥1390॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-43)]

अर्थ- जीवों को बांई नाडी अमृतमयी सदा हितकारी जाननी चाहिये। बाई नाडी वहती हुई जीवों के समस्त शरीर को अमृत समान तृप्त करती है। दाहिनी (सूर्यनाड़ी) संपूर्ण अहित को कहने वाली है, तथा संसार को देने वाली है। दाहिनी नाडी निरन्तर बहती हुई शरीर को क्षीण करती है।

स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगो न सन्देहः ॥1453॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-99)]

अर्थ- पवन के प्रचार करने में चतुर पुरुष विषययुक्त मन को जीतता है अर्थात् ऐसे पुरुष की कामवासना नष्ट हो जाती है। और संपूर्ण रोगों का क्षय करके शरीर में दृढता करता है।

जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम्।
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षरस्य वीरस्य॥1454॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः श्लोक-100)]

अर्थ- इस पवन के साधनरूप प्राणायाम से जीतीं हैं इन्द्रियां जिसने ऐसे धीर वीर यति के सैकडों जन्मों में संचित कीये हुए तीव्र पाप दो घड़ी में नष्ट हो जाते हैं।

आगे प्राणायाम से हो, इसका खुलासा करते हैं-

यहां पर ऐसा आशय जानना चाहिये कि प्राणायाम से जगत के (लोक के) शुभ अशुभ तथा भूत भविष्यत और वर्तमान काल के तमाम व्यवहार जाने जाते हैं। तथा पर शरीरादिक में प्रवेश करने की योग्यता (सामर्थ्य) हो जाती है। सो ये सब तो लौकिक प्रयोजन हैं। इनमें कुछ भी परमार्थ नहीं है। इनके सिवाय मन को विषयभूत करने

वाली विषय वासनाएं भी नष्ट हो जाती हैं। तथा अपने स्वरूप में लय होने से अनेक जन्म में बांधे हुए कर्मों को नाश करके मुक्ति प्राप्त करना पारमार्थिक फल है। इसी से योगीश्वरों को करना उचित है। तथा इस पवन के अभ्यास से पृथिवी आदि मंडलों का (तत्त्वों का)नासिका के द्वारा जो पवन निकले उसके द्वारा निश्चय करना कहा। उन पृथिवी आदिक तत्त्वों का वर्णन आकार आदि का स्वरूप कहा सो कल्पना मात्र है।

निमित्तज्ञान के शास्त्रों में इनका विशेष वर्णन है कि शरीर पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमयी हैं। इसमें पवन सदा- विचारता रहता है। इन्हीं पृथिवी आदि तत्त्वों की कल्पना करके निमित्तज्ञान सिद्ध किया जाता है।

आगे पूरक, कुम्भक, रेचक करने के अभ्यास से इस पवन को अपने आधीन करके पीछे इसको नाडी की शुद्धता के अभ्यास से नासिका से बाहर निकाले वा प्रवेश करावे। तब नाडी के शुद्ध होने पर फिर पवन बाहर निकाले, उसकी रीति का पृथिवी आदि मंडल के स्वरूप का जैसा वर्णन है वैसा ही पहिचानैं, उसके निमित्त से जगत (लोकों) को भूत भविष्यत काल का ज्ञान होता है, और शुभाशुभ जाना जाता है। उससे लौकिक प्रयोजन इतना ही है कि ऐसा जीव अपने आप जानकारी करै या लोक प्रश्न करै तो उनको उत्तर रूप में कहै।

प्राणायाम की कठिनता को कहते हैं-

जलबिन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत्।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामश्च तत्समः॥1455॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (एकोनत्रिंशः सर्गः में उद्धृत)]

अर्थ- जो कोई पुरुष कुश के अग्रभाग से जल की एक बूंद महीने-महीने अन्तराल देकर सौ वर्ष तक पीता है, दूसरा किसी प्रकार के आहारादिक को नहीं करता है ऐसा कठिन तप करने वाला व्यक्ति पवन का साधन कर सकता है पर ऐसे कठिन तप से भी यह प्राणायाम महान कठिन है परन्तु महात्मा योगी पुरुष ध्यान के प्रभाव से इसकी साधना सुगम रीति से कर लेता है, ऐसा योगी धन्य है

आगे इस भाव का सारांश इस प्रकार दिया है कि

ज्ञानार्णव अध्याय ४२ में

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
धर्मध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम् ॥2141॥

[आचार्य श्री शुभचन्द्र विरचित 'ज्ञानार्णव' (द्विचत्वारिंशः सर्गः श्लोक-२)]

अर्थ- हे आत्मन्! तू अपने प्रयोजन का आश्रय कर अर्थात् संसार के तमाम पदार्थों से संबन्ध छोड़कर अपने आप से ही प्रयोजन रख, मोहरूपी जंगल का त्याग कर, विवेक भेदज्ञान को ही अपना बना, संसार, देह और भोगों से अरुचि धारण कर, अर्थात इनसे वैराग्य सेवन कर, परमार्थ दृष्टि से शरीर और आत्मा के भेद का निश्चय कर अर्थात ऐसा चिंतवन कर कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। धर्मध्यान रूपी अमृत की कुहर (मध्य) में अच्छी तरह अवगाहन (स्नान) करके अनंत सुख स्वभाव सहित मुक्ति के मुखकमल को देख।

भावार्थ- हे आत्मन् तुझे सद्गुरु इस तरह समझा रहे हैं जैसे मानों किसी बच्चे को समझा रहे हों, लेकिन तू तो आंखों से अंधे पुरुष की

तरह अपने उद्धार का मार्ग ही नहीं सोचता, यदि सोचने लग जाओ तो तुम्हारा तरण शीघ्र हो जावे। ऊपर आचार्य ने जिन-जिन चीजों के त्याग और ग्रहण करने का उपदेश दिया है उस पर यदि दृढ़ हो जावोगे तो सदा के लिये जन्म मरण के दुःख से छूट जाओगे। सद्गुरुओं के उपदेश के सुनने का यही फल हो सकता है। अये भव्यो! मनुष्य भव को पाकर तुमने अपना कल्याण न किया तो फिर अनंत भव धारण करने पड़ेंगे। देखो तुम्हारे आत्मा के उद्धार होने के लिये एक कवि क्या कहता है-

नहि दुःखसे घबराय है सुखकी जिसे नहिं चाह है।
सन्मार्ग में विचरे सदा चलता न खोटी राह है।
पावन परम अन्तःकरण है गंभीर धीर विरक्त है।
शम दम क्षमासे युक्त है सो बिना इच्छा मुक्त है॥

अर्थात् जो सुख की परवा नहीं करता है वह दुख से कभी नहीं घबराता है, वह तो कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग में ही विचरण करता है उसका अन्तःकरण तो अत्यंत पवित्र है, वह धीर है, गंभीर है और विरक्त है। कषाय और इन्द्रियों का जीतनेवाला है। इसलिये ऐसा व्यक्ति तो बिना इच्छा के ही मुक्त है। ऐसे विचार उस व्यक्ति के होते हैं जो अपने कर्तव्य पर सदा दृढ़ रहता है। इसी बात को आगे के छंद में कवि वर्णन करता है।

कर्तव्य था सो कर चुका, करना न कुछ भी शेष है।
था प्राप्त करना पा लिया, पाना न अब कुछ लेश है।
जो जानना था जानकर स्व स्वरूप में संयुक्त है।
जीया नहीं संदेह सो इच्छा बिना ही मुक्त है॥

अर्थात्- जिसने कषाय और इन्द्रियों को वश कर लिया, क्षमा रूप जो हो चुका, जिसने इच्छाओं को वश में कर लिया वह व्यक्ति तो मुक्त है, उसको अब कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि उसे तो जो कुछ करना था वह (मुक्त जीव) कर चुका उसे अब कुछ भी करना शेष नहीं है और न उसे कुछ प्राप्त करना शेष है, जो कुछ प्राप्त करना चाहिए था उसने सब कुछ पा लिया, तीन लोक में जो कुछ जानने लायक था वह सब उसने जान लिया अब कुछ भी जानने को शेष नहीं है। उसने तो हर तरह की इच्छाओं को वश में कर लिया इसलिए वह तो बिना इच्छा ही मुक्त है। इसलिए हे आत्मन्! जब तुम इच्छा रहित हो जाते हो तो हमेशा सुखी ही हो जाते हो। देखो संसार में जितना दुःख है सब इच्छाओं के पीछे है। इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा बतलाया जाता है सो ध्यान देकर सुनो-

एक आशावान व्यक्ति आशा के वशीभूत होकर मोह से ऐसा विचार करता है कि ये मकान मेरा है, उसकी ममत्व की वासना मकान के ईंट चूना आदि में लग रही है। बाद में उसने एक सेठ को वह मकान बेच दिया और उससे हुण्डी ले ली। उसके हाथ तो हुण्डी लग गई सो प्रसन्न हो गया पर थोड़े समय बाद उस मकान में आग लग गई। इस बात को सुनकर वह आशावान व्यक्ति विचार करता है कि बहुत ही अच्छा हुआ कि मेरे हाथ हुण्डी आ गई, अन्यथा मेरा बड़ा नुकसान होता! अर्थात् उस व्यक्ति का ममत्व मकान से तो निकल गया और हुण्डी में लग गया, बाद में हुण्डी को बेचकर रुपयों की थैली उसने ले ली, अब हुण्डी का कागज भले ही फट जावे या जल जावे उसे उससे कोई सरोकार नहीं रहा, उसका ममत्व हुण्डी से निकल कर रुपयों में लग गया, क्योंकि अब तो केवल थैली की ही सम्हाल होती है। बाद में

वे रुपया किसी सेठ की दुकान पर जमा कर दिये अब भले ही वे रुपया चोरी में चले जावें या राख हो जावे उसको इस बात की तब तक कोई परवाह नहीं है जब तक वह फर्म ठीक हालत में बना हुवा है, चिन्ता तो केवल इतनी ही बाकी रहती है कि कहीं दिवाला न निकाल दे। आशावान ममत्वी जीव की इस प्रकार से पर पदार्थों में ममता लगी रहती है, जिससे वह हमेशा चिन्ताओं में ग्रस्त रहता है आशा ही जीव को महा दुखदायी है! जब तक

परपदार्थों में ममता भाव रहता है तब तक इस आत्मा को सुख का अनुभव नहीं हो सकता है इसलिए हे आत्मन्! यदि तू सच्चे सुख का अभिलाषी है तो अपने रूप की पहिचान कर और अपने आत्मा से भिन्न जितने पदार्थ हैं उनको "ये परपदार्थ हैं "ऐसा निश्चय कर, उनमें ममत्व का त्याग कर, तुझे तो ऐसा विचार करना चाहिए कि-

राजा हूं तिहुं लोक का चेतन मेरा नाम।
ममता के वश में पड़ा नहिं सूझे आराम॥

इसलिए इस ममता रूपी पिशाचिनी का अपने आत्मा के रूप का विचार कर दूर से ही त्याग कर और ऐसा त्याग कर कि फिर से ये तुम्हारे पास न आ सके। देखो तुम्हारा रूप आचार्य महाराज ने क्या बतलाया है-

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।१०।।
[आचार्य प्रवर अमृतचन्द्र विरचित 'समयसार कलश' (जीव अधिकार)]

अर्थ- शुद्ध नय पर द्रव्य पर द्रव्य के भाव तथा पर द्रव्य के निमित्त से होने वाले विभाव भाव से भिन्न सम्पूर्ण लोकालोक के जानने वाले स्वभाव को प्रगट करने वाला, आदि और अन्त से रहित, अर्थात् जो कहीं से उत्पन्न हुवा नहीं तथा जिसका कभी नाश नहीं ऐसे पारिणामिक भाव को प्रगट करने वाला, सम्पूर्ण भेदभावों से रहित, एकाकार जिसमें सम्पूर्ण संकल्प विकल्प भाव नष्ट हो गये हैं ऐसे आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता है। यहां संकल्प विकल्प का ऐसा भाव जानना चाहिए कि द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में आपा मानना सो तो संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद करना सो विकल्प है।

इस प्रकार नाटक समयसार में स्वामी अमृतचन्द्र महाराज ने आत्मा का स्वभाव पर पदार्थों से सदा भिन्न है ऐसा बतलाया है। ख्याल करो अपने आत्मा के समान ही दूसरे जीवों की आत्मा है, परन्तु उनसे भी इस आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव बिलकुल भिन्न है। फिर इन जड़ स्वरूप, चैतन्य गुण से रहित ऐसे माया-ममता-ईर्षा-द्वेष-काम-क्रोध-मद लोभ जो मिथ्यात्व प्रकृति के उदय रूप हैं उन रूप कैसे हो सकता है? अपने आत्मा को इनसे तो सदा भिन्न ही जानना चाहिए।

इसलिए हे भाई भव्य! तेरा चिदानन्द स्वरूप आत्मा जो प्रत्यक्ष परमात्मा समान है, उसकी अच्छी तरह पहिचान करके उसी में स्थिर हो, जिससे तेरी ये संसार रूपी फांसी जल्दी से कट जावे। आश्चर्य है कि तेरा आत्मा तो इन तमाम कर्मों से भिन्न है लेकिन मोह कर्म के माहात्म्य से तुझे भिन्न प्रतीत नहीं हो रहा है अब तेरे पुण्य कर्म के उदय से तुझे श्री गुरु के उपदेश का समागम मिला है, जिसको तू

ध्यान से सुनकर अपने कर्तव्य का मनन कर यदि एक छह माह भी तूने ऐसा अभ्यास कर लिया तो निश्चय से विश्वास कर तेरा बेड़ा शीघ्र पार लग जावेगा।

संवर भावना में संवर होने के कारणों का निर्देश करते हुए आचार्य महाराज ने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा इनका वर्णन किया, अब परीषहजय का वर्णन करते हैं-

क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) आदि वेदनाओं के तीव्र उदय होने पर भी सुख, दुख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, निंदा, प्रशंसा आदि में समानता रूप जो नवीन शुभाशुभ कर्मों को रोकने में और पुराने शुभाशुभ कर्मों के निर्जरण करने में समर्थ ऐसा परम सामायिक है उस सामायिक के द्वारा निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न विकार रहित नित्यानंद रूप लक्षण का धारक जो सुखामृत है उसके ज्ञान से चलायमान नहीं होना सो परीषहजय है। परीषह तो कर्मोदय जन्य शुभ कार्यों में उपस्थित होने वाली बाधाएं हैं, अच्छे-अच्छे कामों में भी बाधाएं खड़ी हो जाती हैं। बड़े- २ पुण्यात्माओं को भी बाधाओं ने सताया है उन्हीं बाधाओं का नाम परीषह है।

ऐसी परीषह बाईस प्रकार की होती हैं १) क्षुधा २) तृषा (पिपासा) ३) शीत ४) उष्ण ५) दंशमशक ६) नाग्न्य ७) अरति ८) स्त्री ९) चर्या १०) निषद्या ११) शय्या १२) आक्रोश १३) बध १४) याचना १५) अलाभ १६) रोग १७) तृणस्पर्श १८) मल १९) सत्कार- पुरस्कार २०) प्रज्ञा २१) अज्ञान २२) अदर्शन। मोक्ष चाहने वालों को इनकी सहन करना चाहिये। ये परीषह कर्म के उदय आने पर उपस्थित होती हैं। आचार्यों ने बतलाया है कि-

"मागोच्यघन निजरार्थं परिपोढव्याः परीषहाः"

[श्री आचार्य उमास्वामी विरचित 'तत्त्वार्थ सूत्र' - अध्याय ९ - सूत्र ८]

अर्थात् आते हुए कर्मों के रोध करने के लिये और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करने के लिये कर्मों के उदय से आने वाली बाईस तरह की बाधाओं को मोक्ष के इच्छुक मुनि को सहन करना चाहिये। किस तरह सहन करना चाहिये इस बात को कहते हैं-

मुनि भिक्षावृत्ति से पर के घर आहार लेते हैं इसी से इनका नाम भिक्षु है भिक्षु निर्दोष आहार लेते हैं, दोष सहित, जैसा तैसा आहार नहीं लेते हैं। यदि निर्दोष आहार का अलाभ हो तथा अंतरायादि के कारणों से थोड़ा मिले तो नहीं मिटी है क्षुधा की वेदना जिनकी, अकाल और अयोग्य क्षेत्र में आहार लेने की नहीं है इच्छा जिनकी (ऐसा नहीं है कि जिस समय भूख लगे उसी समय आहार लेने को दौड पड़ें, तथा अयोग्य क्षेत्र में ले लेवें) ऐसे साधु आवश्यक क्रिया को कुछ भी छोड़ते नहीं हैं, भूख के कारण चित्त नहीं लगे तो सामायिकादि क्रियाएं जैसे तैसे करते नहीं, मुनि तो स्वाध्याय और ध्यान करने में तत्पर रहते हैं। बहुत बार आप खुद करे तथा प्रायश्चित आदि के निमित्त से करने पड़ें ऐसे अनशन, अवमौदर्य नीरस आहार, तप इनसे युक्त, तथा इन तपों के निमित्त से क्षुधा तृषा की ऐसी दाह उत्पन्न होती है जैसे ताते भाड़ पर पड़ी जल की बूंद तत्काल सूख जाती है। उठी है क्षुधावेदना जिनको तो भी भिक्षा का अलाभ होने पर उस अलाभ को लाभ होने से भी अधिक मानते है कि हमारे यह अनशन तप हुआ सो बड़ा आनंद हुआ है। वे उस समय क्षुधा का चिंतवन नहीं करते हैं। धन्य हैं वे मुनि जिनके ऐसे उज्ज्वल परिणाम हैं। ऐसे मुनि का क्षुधा का जीतना सत्य है। अत्यंत भूख रूप अग्नि के

जाज्वल्यमान होने पर उसको धैर्य रूप जल से शांत करना सो क्षुधा परीषहजय है ये क्षुधापरीषहजय उस साधु के हो सकती है जिस का वस्त्रादि से शरीर का संस्कार नहीं है, शरीरमात्र उपकरण से जो संतुष्ट हैं संयम के नाश करने वाले कारणों को जो दूर से त्याग करते हैं, जिनका भोजन कृत कारित अनुमत संकल्पित उद्दिष्टादिक दोषों से रहित होता है, जो योग्य देश काल में प्रवृत्ति करते हैं, ऐसे त्यागियों द्वारा अनेक उपवास करने से, मार्ग चलने से, रोग के उत्पन्न हो जाने से, तप के बढ़ जाने से, स्वाध्याय करने से उत्पन्न परिश्रम से, वेला के उल्लंघन करने से, असातावेदनीय की उदीरणा से, नाना प्रकार के आहार रूप ईंधन के अभाव से, पवन से प्रज्वलित अग्नि की शिखा की तरह शरीर, इन्द्रिय और हृदय को क्षुब्ध करने वाली जठराग्नि से इत्यादि कारणों से क्षुधा (भूख) की वेदना उत्पन्न हो जावे तो उसका प्रतिकार अकाल में संयम की विरोधी द्रव्यों से आप खुद नहीं करे, दूसरों के द्वारा की हुई का सेवन नहीं करे, ऐसा विषाद भी नहीं करें, कि ये वेदना तो बड़ी कठिन हैं, काल भारी है, दिन बडे- २ होते हैं, कैसे पूर्ण होंगे। जिनके हाड़ चाम नख केश मात्र देह रह गया हो, तो भी अपनी आवश्यक क्रियाओं के करने में निरन्तर उद्योगी हैं, जो पराधीन बंद गृहादि में पड़े मनुष्यों की तथा निर्धन, रोगी मनुष्य और पिंजडों में पड़े हुए तिर्यंचों की क्षुधा की वेदना को देखकर संयम रूप घड़े में धारण किये हुए धैर्य रूप जल से क्षुधा रूप अग्नि को शांत करते हैं उनके ही क्षुधा परिषहजय होती है।

वीतरागी मुनि के स्नान करने का, जल में गोता मारने का अंगपर जल सींचने का तो यावज्जीवन त्याग रहता है, पक्षियों की तरह एक स्थान में उनका रहना नहीं हैं, दूसरे के घर अत्यंत खाटा, सचिक्कण,

रूखा, प्रकृति विरुद्ध आहार ग्रहण करते हैं, ग्रीष्म ऋतु में भारी गर्मी पड़ने से, पित्तज्वर हो जाने से, अनशनादि तप करने से उदीर्णा को प्राप्त हुईं शरीर और इन्द्रियों को मथन करने वाली प्यास से, वेदना होने पर भी प्रतिकार करने में अनादर करने वाले, ग्रीष्म की तीक्ष्ण सूर्य की किरणों से तपी हुई वनभूमि में रहनेवाले, निकट में मौजूद स्वच्छ जल से भरे हुए नदी तालाबादि के जल में मन को नहीं चलाने वाले, जलकाय के जीवों की बाधा के परित्याग करने की इच्छा से जल की चाह रहित, जैसे जल के संबंध रहित बेल कुम्हला जाती है उसी तरह जल के बिना शरीर लता की शिथिलता का नहीं अनुभव करने वाले, तप के निर्वाह करने में तत्पर भिक्षा के समय में भी अपनी चेष्टा आकार समस्यादि से अपने पीने योग्य भी जलादि के प्रति प्रेरणा या याचना नहीं करने वाले, किंतु अपने धैर्य रूपी घड़े भरे हुए शीतल सुगंधित ध्यानरूपी जल से प्यासरूपी अग्नि को बुझाने वाले मुनि का तृषा वेदनीय की उदीरणा के कारणों के होते हुए भी तृषा (प्यास) के आधीन नहीं हो जाना किंतु उस वेदना को संतोष से सहन करते हुए अपने कर्तव्य में तत्पर रहना सो तृषा परीषहजय है॥२॥

वस्त्रों का है त्याग जिनके, पक्षी की तरह एक स्थान में रहने का जिनके निश्चय नहीं, शरीर मात्र आश्रय के रखने वाले, संपूर्ण ऋतुओं में वृक्षों के नीचे या चौराहे में या गुफादिकों में नदी- तालाब के तट में रात्रि को ध्यानादि सहिता बिताने की है प्रतिज्ञा जिनकी, शिशिर ऋतु में पड़ते हुए ओस- बरफ पाला और अत्यंत ठंडी वायु के घात से घात किया गया है शरीर जिनका तो भी शीत को दूर करने वाले अग्नि इत्यादिक चिंतवन से रहित, ऐसा विचार करने वाले कि हे आत्मन् नरक में दुःसह शीतवेदना असंख्यात् समय तक अनंतों बार कर्म के

वश होकर भोगी है उसके आगे ये वेदना तो कुछ भी नहीं है ऐसा चिंतवन करते हुए परमार्थ बिगड़ने के भय से शीत दूर करने के इलाज की इच्छा नहीं करना, शीत के दूर करने में समर्थ ऐसे विद्या मंत्र औषधि-पत्र वल्कल त्वचा तृण आदि के संबंध में कभी भी मन को नहीं चलाना, धैर्य रूपी गर्भगृह में विवेक रूपी दीपक के उजेले में अपने स्वरूप को अवलोकन करते हुए हर्ष पूर्वक रात्रि व्यतीत करना, पूर्व समय में भोगे जो श्रेष्ठ स्त्रियों के नवीन यौवन से पुष्ट कुच नितंब, भुजाओं के अंतराल से निवारण किये हुए शीत का स्मरण नहीं करना, इस प्रकार शीत की तीव्र वेदना का स्मरण न करते हुए विषाद रहित संयम में तीव्र उत्साह सहित रहते हैं उनके शीतपरीषहजय होती है।

ग्रीष्मादि जनित दाह के इलाज की इच्छा के अभाव में चारित्र की रक्षा करना सो उष्ण परीषहजय है। वह इसप्रकार कि गर्मी ऋतु सूर्य की अति कठोर किरणों से संतापित है देह जिनकी, तृषा की वेदना से उत्पन्न तथा अनशन तप के द्वारा, पित्त प्रकोप से, घाम से, मार्ग में चलने से उत्पन्न खेद से उष्णता से, पसेव शोष दाह से, अत्यंत पीड़ित हैं तो भी जल- स्थान में निवास को, जल में डुबकी को, चंदन कपूर आदि के लेप को, जल का छिड़काव गीली भूमिका स्पर्श, नील कमल केला आदि के पत्तों से पवन जल चंदन चन्द्रमा की किरण, कमल बर्फ इत्यादिक पूर्वकाल में अनुभूत ठंडे द्रव्यों की चाहना से रहित है चित्त जिनका, वे मुनि ऐसा विचार करते हैं कि संसार में बहुत बार अतितीव्र उष्णवेदना पराधीन होकर भोगी है अब तो मैं कर्मक्षय का कारण तप करने में उद्यमी हूं इसलिये संयम में विरोध करने वाली क्रिया में अनादर कर अपने चारित्र की रक्षा करना ही

उचित है ऐसे उत्तम विचार के धारक मुनि के उष्ण परीषहजय होती है।

त्याग किया है शरीर का आवरण जिन्होंने, कहीं भी नहीं निश्चित किया है स्थान जिन्होंने, जो दूसरों के द्वारा बनाये हुए मठ, मकान, गुफादिकों में रात दिन निवास करते हैं। वहां पर डांस-मच्छर-पिस्सु-मक्षिका जुवां खटमल कीड़ा बिच्छु इत्यादिक तीव्र वेदना को उत्पन्न करने वाले अनेक जीवों के तीव्र डंकों से मर्मस्थान में भक्षण करने पर भी अपने परिणामों से विषाद को प्राप्त नहीं होते हैं, अपने पूर्वकृत कर्मों के विपाकज फल का चिंतवन करते हैं, विद्या मंत्र औषधादि से इलाज करने की इच्छा नहीं करते हैं। कर्म रूपी बैरी के नाश करने के लिये उद्यम शील होकर संपूर्ण जीवों पर दया करने में उद्यमी होकर बसते हैं ऐसे मुनियों के दंशमसक परीषहजय होती है।॥५॥

जैसा माता के गर्भ से जीव उत्पन्न होता है वैसा नग्न रूप धारण करना सो नग्न परीषहजय कहलाती है। गुप्ति समिति विरोधी परिग्रह के त्याग करने से इस नग्नता में परिपूर्ण ब्रह्मचर्य निवास करता है। ये नग्नपना ही इच्छा रहित मोक्ष का कारण रूप चारित्र का आधार है। ये नग्नपना किसी प्रकार के संस्कार से नहीं होता है, यह स्वतः स्वभाव है, विकार रहित है, मिथ्यादृष्टि भी इससे बैर नहीं करते हैं। ये परम मंगल रूप है, ऐसे नग्नपने को प्राप्त साधु स्त्रियों के शरीर को महा अपवित्र और घृणित ही देखता है और वैराग्योत्पादक भावना से मन के विकार को रोकता है। ऊपर कही हुई शीत उष्ण आदिक संपूर्ण परीषहों को सहता है। इसलिए नग्नपरीषह का जीतना ही परम कल्याण है। अन्य जितने भी भेषी हैं वे मन के विकार के रोकने

में अत्यंत असमर्थ हैं, क्योंकि वे इसीलिए तो लंगोटी भोजपत्रादि आवरणों को धारण करते हैं। परन्तु आत्मा के सम्यग्ज्ञान स्वभाव को नष्ट करनेवाले काम लोभादिक को नहीं रोकते हैं। इसलिए नग्नपने के परीषह के विजय को धन्य दिगंबर ही धारण करते हैं।

सच्चे दिगंबर मुनि संयम में अत्यंत रति धारण करते हैं इसलिये साधु अरति को जीतते हैं। नीचे लिखे कारण अरति उत्पन्न होने के हो सकते हैं क्षुधा तृषा-शीत-उष्णादिक की बाधा, संयम की रक्षा, इन्द्रियों का दुर्जयपना, व्रतों के पालने का भार, सर्वकाल अप्रमादीपन, अनेक देशों की अनेक भाषाओं को जानकारी न होना, कठोर चपल वन के प्राणियों का संगम, अत्यंत भयंकर वन में निवास, कठोर भूमि में शय्या आसनादिक का नियम, एकल विहारीपना इत्यादि कारणों से उत्पन्न दुखदायी अरति को धैर्य विशेष से निवारण करने वाले साधुजन का संयम में रति की भी भावना से विषयों के सुख का विष के आहार के सेवन की तरह परिपाक काल में कटुक चिंतवन करने वाले साधु के अरति परीषहजय होती है। ॥७॥

सुन्दर स्त्रियों के रूप के देखने, स्पर्शादि करने से विमुख होना सो स्त्रीपरीषहजय है एकांत वन बगीचों के महल भवनादि स्थान में रहनेवाले साधुओं के राग द्वेष सहित यौवन का मद, रूप का मद, आभरण वस्त्रादिक का मद, उन्माद सहित मद्यपानादि से उन्मत्त, हाव भाव विलास, विभ्रमों से युक्त, स्त्रियां आकर बाधा करें तो भी स्त्रियों के नेत्र मुख भ्रकुटी का विकार आकार बिहार विलास लीला कटाक्षों का विक्षेप तथा सुकुमार सचिक्कण कोमल उन्नत पुष्ट ऐसे कुच और उज्ज्वल कृश उदर तथा विस्तीर्ण जंघाएं एवं रूप गुण आभरण सुगंध वस्त्र माल्यादि के अवलोकन स्मरण से अत्यंत दूरवर्ती है मन

जिसका, तथा जो देखने स्पर्श करने की अभिलाषा रहित हैं। स्त्रियों के कोमल, स्नेह के भरे, श्रृंगार रस को पुष्ट करने वाले गीत वादित्रों के सुनने में निरादर रूप प्रवृत्ति करने वाले संसार समुद्र में गिरने से अत्यंत भयभीत ऐसे साधुओं के स्त्रीपरीषजय होती है॥८॥

मार्ग में चलने के दोषों के निग्रह करने को चर्यापरीषहजय कहते हैं।

बहुत समय तक गुरुओं के संघ में रहकर ब्रह्मचर्य का किया है अभ्यास जिनने, जाना है बंध मोक्ष के पदार्थ का स्वरूप जिनने, कषायों के निग्रह करने में तत्पर तथा द्वादश भावनाओं के चिन्तवन में लगाई है बुद्धि जिनने, नाना देशों के व्यवहार और भाषा में प्रवीण ऐसे साधुओं का गुरुओं की आज्ञा से संयमियों की भक्ति करने के लिए ग्राम के निकट एक रात बसना तथा नगर के समीप पांच रात बसने का वर्षा ऋतु बिना उत्कृष्ट नियम है, इसलिए वायु की तरह निःसंगपने को प्राप्त देशकालादि के प्रमाण से मार्ग में गमन करते हुए भयानक वन के प्रदेशों में सिंह की तरह निर्भयपन से सहायता की इच्छा नहीं करते हुए कर्कश कंटक कंकरादि के भिदने से उत्पन्न हुआ है पैरों में दुःख जिनको, तो भी पूर्व में अनुभव किये हुए यान वाहनादि के ऊपर चढ़कर गमनादि को नहीं स्मरण करने वाले मुनि के गमन जनित दोषों के परिहार से चर्यापरीषहजय होती है॥ ९॥

स्वयं संकल्प किये हुए आसन से चलायमान नहीं होना सो निषद्या परीषपहजय है। और वह इस प्रकार कि-

संयम की क्रिया का जाननेवाला, धैर्य ही है सहाय जिसका, उत्साह वाला, श्मसान उद्यान वन शून्यगृह पर्वतों की गुफा दराडे इत्यादिक जो पूर्व में परिचय में नहीं आये हों ऐसे स्थानों में रहनेवाला साधु

उपसर्ग रोगविकार आदि होने पर अपने निश्चित आसन से चलायमान नहीं होता है। मंत्रविद्यादिक इलाज का नहीं करता है। अनेक प्रकार के क्षुद्र जीवों के द्वारा बाधा होने पर भी काष्ठ पाषाणादि की तरह निश्चल रहता है। पहिले अनुभव किये हुए कोमल गादी गोदडा सिंहासनादिक के सुख रूप स्पर्शादिक को स्मरण नहीं करता है। वह तो प्राणियों की पीड़ा के परिहार करने में उद्यमशील रहता है अपनी बुद्धि को ज्ञान ध्यान भावना में ही रखता है ऐसे साधु के ही निषद्यापरीषहजय होती है।

(१०) शास्त्र की आज्ञा प्रमाण शयन से नहीं चिगना सो शय्या परीषह जय है। वह इस प्रकार कि-

स्वाध्याय ध्यान और मार्ग में गमन करने से उत्पन्न खेद सहित, कठोर भूमि कहीं नीची कहीं ऊची ऐसी विषमभूमि तथा जहां बहुत कांकरा कांकरी टुकडों के खंडों से युक्त सगडी तथा अति शीत अति उष्ण भूमि में एक मुहूर्त प्रमाण निद्रा के लेने वाले, जैसा करवट लिया हो उसी तरह एक पखवाडे अथवा डंडे की तरह वा सूधे शयन करने वाले तथा शरीर में बहुत बाधा होने पर भी संयम पालने के लिए हलन चलन नहीं करने वाले, व्यन्तरादिक दुष्ट देवों के द्वारा त्रास रूप करने पर भी भागने या उठने के प्रति इच्छा रहित, मरने के भय की शंकारहित, पड़े हुए काष्ठ की तरह वा मुरदे के शरीर की तरह पटलन से रहित, व्याघ्र-सिंह बड़े- २ सर्पादि दुष्ट जीवों से भरे हुवे वन को देखकर "यहां से शीघ्र निकल भागना अच्छा है, रात्रि कब पूरी होगी "इत्यादि प्रकार के विषाद को नहीं रखने वाले, पहिले गृहस्थावस्था में भोगी ऐसी लूनी घृतवत कोमल शय्या को नहीं याद करने वाले ऐसे

ज्ञानी वीतरागी साधु का आगमोक्त शय्या से नहीं चलायमान होना सो शय्यापरीषहजय है॥ ११॥

अनिष्ट वचनों को सहन कर जाना सो आक्रोशपरीषहजय है। तीव्र मोह युक्त मिथ्यादृष्टि आर्य म्लेच्छ दुष्ट पापाचारी उन्मत्त गर्विष्ट इत्यादि प्रकृति वाले लोगों के द्वारा कहे गये, क्रोध रूप अग्नि की शिखा को बढ़ाने वाले, हृदय में शूल समान चुभने वाले कठोर वचन, मर्मच्छेद के वचन श्रवण करके भी परिणामों में कलुषित नहीं होना, उनकी सामर्थ्य ऐसी है कि यदि रोष करें तो संसार को भस्म कर दे तो भी साम्यभाव का धारक साधु उन पर करुणा ही करता है और ऐसा विचार करता है कि इनके कर्म के उदय से अज्ञानभाव है, हमको देखते ही इनमें दुःख उत्पन्न हो गया है। ये बेचारे तो कर्म पराधीन हैं इसमें इनका क्या अपराध है मेरा ही अशुभ कर्म का उदय है। इस प्रकार का चिंतवन करने वाला साधु दूसरों के द्वारा कहे गये दुर्वचनों को सुनकर क्लेश को प्राप्त नहीं होता है किन्तु उन अनिष्ट वचनों को सहन ही करता है। ऐसे अनिष्ट वचनों को सहन करने वाले साधु के आक्रोशपरीषहजय होती हैं॥ १२॥

मारने वाले में रोष नहीं करना सो वधपरीषहजय है- ग्राम में, बगीचे में, वन में, नगर में, रात दिन अकेले रहने वाले आच्छादन रहित नग्न मुनि को क्रोध से भरे ऐसे चोर-भील म्लेच्छ तथा पूर्व भव के बैरी मिथ्यादृष्टि धर्म के द्रोही, दुष्ट लोग नाना प्रकार के ताड़न आकर्षण घसीटन-बंधन-पाषाण- लाठी शस्त्र चाबुक इत्यादिकों से मारते हैं तो भी बैर रहित होकर ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर तो अवश्य नष्ट होने वाला है मेरा तो जिस तरह व्रत, शील, भावना, ध्यान का नाश न

हो और शमभाव से शरीर का पतन हो जाय तो श्रेष्ठ है। जैसे चंदन जलने पर भी सुगंधि को देता है उसी प्रकार क्रोध से मारन ताड़न करते हुए भी दुष्ट बैरी के प्रति उत्तम क्षमा के बल से अपने कर्म की निर्जरा करते हुए धैर्य के धारी विकार परिणाम को प्राप्त नहीं होते हैं ऐसे साधुओं के वधपरीषहजय होती है॥ १३॥

प्राणों के नाश होने पर भी आहारादि के लिये दीनता रूप प्रवृत्ति का अभाव करना सो याचना परीषह का विजय है। क्षुधा से मार्ग के खेद से, तप से, रोगादि से जिनका वीर्य नष्ट हो गया है तथा सूखे वृक्ष की तरह आर्द्रता (गीलापन) रहित है शरीर जिनका, ऊँचे प्रगट हुए हैं नसाजाल जिनके तथा नीचे गढ़ गये हैं नेत्र जिनके सूख गया है अधर (नीचे का ओष्ठ) जिनका, कृश हो गया है कपोलभाग जिनका, सकुड़ गई है शरीर की त्वचा जिनकी, शिथिल हुए हैं गोडा टकूडया, कटि, जंघा और बाहु जिनके मौन धारण कर गमन है जिनका गृहस्थों के घर में जहां तक किसी की रोक नहीं वहां तक शरीर का दिखाना मात्र है व्यापार जिनका, मद रहित अपने आधीन है चित्त जिनका, प्राणों के अंत होने पर भी आहार, वसतिका, औषधादिक के लिये दीन वचनों से मुख की विवरणता द्वारा हस्तादिक के इशारे से पेट की दुर्बलता से कभी भी याचना नहीं करते जैसे रत्नों का व्यापारी मणि को देखता है उसी प्रकार दीनता रहित है शरीर का दिखाना जिनके, जैसे जगत में वंदना किया हुवा अपने हाथ को प्रकाशन करता है उसी प्रकार दाता भोजन के पात्र से ग्रास उठाकर देने के लिये हाथ करे तब साधु अंजुली को ऊंचा करते हैं। हस्तपुट को दीनता रहित आहार के समय धारण करने वाले साधु के याचना परीषह का सहना होता है। इस समय इस निकृष्ट काल के प्रभाव से दीन, अनाथ,

पाखंडियों से भरे हुए जगत में जिनेन्द्र के मार्ग को नहीं जानते हुए याचना करते हैं। ऐसों के याचना परीषह का सहना नहीं हैं॥ १४॥

आहारादिक का अलाभ होने पर भी लाभ की तरह संतुष्ट जो साधु उसके अलाभ परीषह का विजय होता है-

पवन की तरह अनेक देशों में है गमन जिनका, एक दिन में एक काल भोजन के लिये ग्राम या नगर में प्रवेश करते हैं तथा एक उपवास, दो तीन चार पांच उपवासादिक् की पारणा करने के लिये नगर ग्राम में आते हैं वहां एक बार शरीर के दिखाने मात्र में प्रवृत्ति करते हैं; 'देहि' इत्यादिक याचना रूप अयोग्य वचन रहित, "आज आहार का लाभ होगा कि कल होगा" ऐसे संकल्प से रहित, यदि एक ग्राम में भिक्षा का लाभ न होवे तो दूसरे ग्राम में गमन क्रिया रहित हस्तपुटमात्र ही है पात्र जिनके, बहुत दिनों तक बहुत घरों में परिभ्रमण करने पर भी भोजन का लाभ न होने पर भी संक्लेश रहित है चित्त जिनका यह पुरुष दाता नहीं है अन्य ही दाता है, इत्यादि परीक्षा रहित है परिणाम जिनका, लाभ से अलाभ को ही परम तप मानकर संतोष को धारण करने वाले साधु के अलाभपरीषह जय होता है॥१५॥

नाना प्रकार की व्याधि होते हुए भी इलाज के प्रति इच्छा का अभाव होना सो रोगपरीषहजय है। ये शरीर दुःख का कारण है, अपवित्रता का पात्र है जीर्णवस्त्र की तरह अवश्य त्यागने योग्य है, वायु, पित्त, कफ-सन्निपात के निमित्त अनेक तरह के ज्वर कास श्वासादिक रोगों से पीडित है। इस प्रकार के अपने शरीर को अन्य के शरीर की तरह मानने वाला, वीतरागपरिणाम से अलग नहीं, देह के इलाज से विरक्त है चित्त जिनका, रत्नत्रय इस देह बिना रहता नहीं है, ऐसे

रत्नत्रय के सहकारी इस देह का अकाल में नाश न होने देने के लिय आचारांग की आज्ञा प्रमाण निर्दोष आहार ग्रहण करने वाले, जिनके जल्लौषधादिक अनेक प्रकार की ऋद्धियां तप के प्रभाव से उत्पन्न हो जाती हैं तो भी शरीर में निस्पृहपन होने से रोग प्रतिकार की नहीं इच्छा करते हुए रोग को पूर्व कर्म कृत फल जानकर समभाव से सहते हुए ऐसा विचार करने वाले कि ये तो कमाये हुए कर्म का ऋण चुक रहा है इससे मैं तो ऋण रहित हो रहा हूं इस प्रकार के चिंतवन करने वाले मुनि के रोगपरीषह का विजय होता है॥ १६॥

तृण कंटकादि के निमित्त से उत्पन्न वेदना को सहने वाले साधु के तृणस्पर्शपरीषहजय होती है। शरीर में व्याधि और मार्ग में गमन तथा शीत-उष्णता जनित खेद के दूर करने के लिये आपके निमित्त नहीं संवारे ऐसे सूखे तृष्ण-पत्र कठोर भूमि-कंटक- काष्ठफलक-शिलातलादिक प्रासुक देशों में शय्या वा आसनादिक करने से तृणादिक के द्वारा बाधा को प्राप्त भया है शरीर जिनका, उत्पन्न हुवा है खाज का विकार जिनके तो भी तृण-कंटक कठोर भूमि कठोर कंकरों की भूमि का स्पर्श रहित, दुःख को नहीं अनुभव करने वाले मुनि के तृणस्पर्शपरीषहजय होती है॥१७॥

अपने शरीर के मल और आगन्तुक मल के संचय के नाश होने के संकल्प का अभाव होना सो मलपरीषहजय है। जीवों की पीड़ा के परित्याग करने के लिये यावज्जीवन स्नान के त्याग की है प्रतिज्ञा जिनके, पसीना रूप कीचड़ से लिप्त है सब अंग जिनका, खाज दाद कोढ की उत्कटता सहित है शरीर जिनका, नख रोम दाढी मूंछ के केशों का और स्वाभाविक बाह्य मल के मिलाप के कारण अनेक

चाम के मध्य है विकार जिनके, अपने और पर के शरीर में मल के संचय के दूर करने में नहीं है मन जिनका, कर्ममल रूप कीचड़ के नाश करने में उद्यमी तथा पहिले भोगे हुए स्नान विलेपनादिक के स्मरण से पराङ्मुख है चित्त जिनका ऐसे साधु के मलपरीषहजय होता है॥१८॥

जिन साधुओं के सन्मान अपमान में समरूप होता है। जिनके सत्कारपुरस्कार की अभिलाषा नहीं होती है उन्हीं के सत्कार पुरस्कार परीषहजय होती है। मैं चिरकाल से ब्रह्मचर्य का सेवन करता आ रहा हूं, महा तपस्वी हूं, स्वमत परमत के निश्चय का जानने वाला हूं, हितकारी उपदेश देने में तत्पर हूं, रत्नत्रय के मार्ग में प्रवीण हूं, मैंने कितने ही बार वादियों का विजय किया है ऐसा हूं तो भी ये लोग मुझे प्रणाम नहीं करते हैं, मेरी भक्ति नहीं करते हैं, मुझे देखते ही हर्ष से खड़ा होकर आसनादिक नहीं देते हैं। इस जाति के परिणाम मुनि कभी भी नहीं करते हैं। वे तो केवल अपने आत्म कल्याण का ही विचार करते हैं किसी से सत्कार पुरस्कार की इच्छा नहीं करते हैं ऐसे मुनि के ही सत्कार पुरस्कार परीषहजय होती है। पूंजा प्रशंसा रूप तो सत्कार कहलाता हैं और नाम में क्रिया के आरंभ में अगुआ बनाना, प्रधान कार्य में बुलाना सो पुरस्कार है॥१९॥

बुद्धि के मद का अभाव करना सो प्रज्ञापरीषहजय है। मैं अंग पूर्व प्रकीर्णकों में प्रवीण हूं, संपूर्ण ग्रंथ तथा उसके अर्थ का निश्चय करने वाला हूं। त्रैकालिक विषयों के अर्थ का जानने वाला है, शब्दशास्त्र न्यायशास्त्र अध्यात्मशास्त्र के जानने में पूर्ण निपुण हूं हमारे आगे दूसरे-दूसरे विद्वज्जन सूर्य के उद्योत से तिरस्कार को प्राप्त हुए

खद्योत की तरह आभासमान होते हैं। इस प्रकार के प्रज्ञा (बुद्धि) के मद का अभाव करना सो प्रज्ञापरीषहजय है॥२०॥

अपने अज्ञानपने से अपना तिरस्कार होना तथा ज्ञान की अभिलाषा करने पर भी ज्ञान का नहीं होना ऐसे अज्ञान जनित परीषह का जीतना सो अज्ञान परीषहजय है ये अज्ञानी है, कुछ नहीं जानता है, पशुसमान है, इत्यादि प्रकार के तिरस्कार के वचनों को मैं सहता हूं, अध्ययन करने में तथा अर्थ के ग्रहण करने में और तिरस्कार सहने में सशक्त हूं, बहुत काल का दीक्षित हूं, नाना प्रकार के तपों के भार से व्याप्त हूँ, सम्पूर्ण सामर्थ्य में उद्यमशील हूँ अनिष्ट मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से रहित हूं तो भी अब तक मेरे ज्ञान का अतिशय नहीं उत्पन्न हुवा, स्वप्न में भी ऐसे विकल्पों को नहीं करने वाले साधु के अज्ञान परीषहजय जानना चाहिए॥२१॥

दीक्षादिकों को निरर्थक जानने का अभाव सो अदर्शन परीषह जय है- मैं संयमियों में मुख्य हूं, दुर्द्धर तप का आचरण करने वाला हूं, परम वैराग्य भावना से शुद्ध मन का धारक हूं, सकल पदार्थों के तत्त्वों का जानने वाला हूँ।

अर्हंत के आयतन जो साधुजन और धर्म इनका पूजक हूं, अब भी मेरे ज्ञान का अतिशय प्रगट नहीं हुआ, सुना है कि महान उपवासादिक आचरण करने वालों के प्रातिहार्य विशेष प्रगट हो जाते हैं सो ऐसा कहना तो प्रलाप मात्र है। कहना ही कहना है ये दीक्षा भी निरर्थक है) व्रतों का पालना भी निष्फल हैं। हमको तो कुछ प्रभाव प्रगट हुआ नहीं है। ऐसे-ऐसे विचार प्रगट नहीं होना सो अदर्शनपरीषहजय है॥२२॥ इस प्रकार बिना संकल्प ही उत्पन्न हुए

बाईस परीषहों को सहने वालों का चित्त संक्लेश रूप नहीं होता है। ऐसे मुनि के रागादिक परिणाम जनित आस्रव का अभाव होने से महान संवर होता है।

गुणस्थानों के क्रम में परीषह निम्न प्रकार से हो सकती हैं- दशवे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में चौदह परीषह हो सकती हैं, यहां नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, सत्कार, पुरस्कार, आक्रोश, याचना और अदर्शन ये आठ परीषह नहीं होती हैं, बाकी चौदह की सत्ता मात्र रहती है। तेरहवें गुणस्थानी केवली जिन कें ग्यारह परीषह कल्पित की जाती हैं। वे वेदनीय कर्म के सद्भाव से कल्पित की जाती हैं। यहां ऐसा प्रश्न हो सकता है कि यदि ग्यारह परीषह हैं तो क्षुधादिक का भी प्रसंग आवेगा? सो ऐसा नहीं है- क्योंकि यहां घातिया कर्म के उदय का अभाव है, इसलिए वेदनीय कर्म में क्षुधादि उत्पन्न करने की सामर्थ्य का अभाव है। जिस प्रकार मन्त्र औषधि से जिसकी मारने की शक्ति क्षीण हो जाती है ऐसा विष द्रव्य मारने में असमर्थ हो जाता है, उसी तरह ध्यान रूपी अग्नि में दग्ध किये हैं घाति कर्म रूपी ईंधन जिनने ऐसे केवली जिनके अन्तराय कर्म के अत्यन्त अभाव निरन्तर शुभ नोकर्म पुद्गलों का संचय होने से प्रक्षीण हुवा है सहाय बल जिसका ऐसा वेदनीय कर्म, अपना वेदना रूप प्रयोजन उत्पन्न करने को असमर्थ है। इससे भगवान जिनके वेदनीय का उदय होने पर भी क्षुधा अभाव का निश्चय करना चाहिए। संसारी जीवों के वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा तृषादि ग्यारह परीषह होती है। केवली जिनकें भी वेदनीय कर्म का उदय है इससे कर्म रूप कारण देखकर केवली के ग्यारह परीषह कही गई हैं परन्तु मोहनीय कर्म के बल से वेदनीय कर्म प्रबल होता है, सो आहारादिक की इच्छा

रूप क्षुधादि परीषह उत्पन्न करता था, अब वेदनीय को मोहनीय कर्म की सहायता का अभाव हो गया, इससे वेदना देने रूप शक्ति नहीं रही, तब क्षुधादिक् की वेदना कैसे उत्पन्न कर सकता है? असातावेदनीय की उदीर्णा हो तब क्षुधा उत्पन्न होवे, सो वेदनीय कर्म की उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, ऊपर नहीं है। वेदनीय की उदीरणा बिना केवली के क्षुधादिक की बाधा कैसे हो? जैसे निद्रा प्रचला का उदय तो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त है, परन्तु उदीरणा बिना निद्रा नहीं आती, निद्रा कर्म के उदय से ही ऊपर के गुणस्थानों में निद्रा आ जावे तो प्रमादी के ध्यान का अभाव हो जावे जैसे संज्वलन के मन्दोदय होने पर अप्रमत्त गुणस्थान में प्रमाद का अभाव है, क्योंकि प्रमाद तो संज्वलन के तीव्रोदय से होता है, मन्दोदय में नहीं होता है। उसी तरह वेद के तीव्रोदय से संसारी जीवों के मैथुन संज्ञा होती है, और वेद नवमें गुणस्थान पर्यन्त है परन्तु वेद के मन्दोदय से श्रेणी चढ़े हुए संयमियों के मैथुन संज्ञा का अभाव है।

मन्दोदय से मैथुन में इच्छा उत्पन्न नहीं होती है तथा निद्रा प्रचला कर्म का तो बारहवें गुणस्थान तक है परन्तु मन्दोदय से निद्रा नहीं व्यापती है। उसी प्रकार वेदनीय कर्म भी केवली भगवान के क्षुधादिक वेदना उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है! जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र के समस्त जल को एक सरसों का अनन्तवां भाग प्रमाण विष की कणिका विष रूप करने में असमर्थ है उसी तरह अनन्त गुणे अनुभाग का धारक साता वेदनीय के उदय सहित केवली भगवान को अनन्त भाग खण्ड असंख्यात बार जिसका हो गया ऐसा असाता वेदनीय कर्म क्षुधादिक वेदना को नहीं उत्पन्न कर सकता है जो तुम ऐसा कहो कि आहार बिना केवली के देह की स्थिति कैसे रहती है? तो उसका समाधान

ऐसा जानना चाहिये कि आहार के बिना देवों के शरीर की स्थिति रहती है या नहीं? जैसे देवों की स्थिति कवलाहार बिना रहती है उसी प्रकार केवली के देह की स्थिति भी रहती है। जो तुम ऐसा कहो कि देवों के तो मानसिक आहार है इससे उनके देह की स्थिति रहती है, तो हमारा कहना ये है कि केवली भी निरन्तर शुभ, सूक्ष्म, शरीर में बलाधान के कारण ऐसे नोकर्म पुद्गलों का ग्रहण रूप आहार है ही। अगर तुम ऐसा कहो कि केवली की देह तो मनुष्य की देह है, मनुष्य की देह औदारिक होती है, सो औदारिक शरीर की स्थिति बिना कवलाहार के नहीं रह सकती है इसलिए देहवत् कवलाहार ही उचित है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य के तपश्चरण जनित ऐसा प्रभाव प्रगट होता है, जिसकी उपमा त्रैलोक्य में किसो से नहीं बनती। दूसरे भगवान केवली के अनंत ज्ञान और अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है सामान्य मनुष्यों के इन्द्रिय जनित ज्ञान होता है और केवली के अतींद्रिय ज्ञान होता है। इसलिये केवली जिन को अन्य मनुष्य के समान क्यों कहते हो? यदि सामान्य मनुष्य में और केवली में समानता हो जाय तो फिर आत्मा और परमात्मा में क्या भेद रह सकता है? जिस समय क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं उस समय अध प्रवृत्ति करण के परिणामों से चार आवश्यक होते हैं (१) समय समय में कषायों की मंदता से परिणामों की अनंत गुणी विशुद्धता (२) पूर्व में जो कर्मों की स्थिति बांधी हो उसका प्रतिसमय अनंत गुणा घटना (३) साता वेदनीय आदि प्रशस्त कर्मों की रस देने की शक्ति का प्रतिसमय अनंतगुणा बढना और (४) असातावेदनीय आदि अप्रशस्त कर्मों की प्रकृतियों का अनुभाग समय समय घटना। क्योंकि अशुभ प्रकृतियों में विष हालाहल रूप शक्ति का तो अभाव हो जाता है, वह तो निंबू कांजी रूप रस रह जाता है। इस प्रकार चार आवश्यक तो

अधःप्रवृत्ति करण से होते हैं। और अपूर्व करण से गुणश्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति- काण्डकोत्कीर्ण और अनुभाग काण्डकोत्कीर्ण ये चार आवश्यक होते हैं। इससे केवली भगवान के असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियों का रस असंख्यात बार अनन्तानन्त का भाग देकर घट गया तब असाता में सामर्थ्य कहां रही? जो केवली के क्षुधादिक वेदना उत्पन्न करे असाता वेदनीय का बन्ध तो छट्ठे गुणस्थान तक ही है, सातवें गुणस्थान से असाता का बन्ध होता नहीं है, एक साता वेदनीय का ही बन्ध होता है। ११-१२-१३ वे गुणस्थान में जो साता वेदनीय का बन्ध है सो एक समय की भी स्थिति नहीं पाता है, क्योंकि स्थिति का कारण तो कषाय है सो वह तो मूल में ही नष्ट हो गया, तब साता का बन्ध उदय रूप होता ही बंधता है। पूर्व का बांधा असाता का मन्दोदय वर्तमान काल का साता का उदय रूप होकर परिणम जाता है। तब क्षुधादि वेदना कौन उत्पन्न करेगा? जैसे अमृत के समुद्र में मिला हुवा एक जला हुवा विष का कण रस नहीं दे सकता है। दूसरे बड़ी मूर्खता प्रगट दीखती है कि तीन लोक के अधिपतियों से वन्दनीय देवाधिदेव परम पूज्य अर्हंत भट्टारक को जगत के विषय कषायी रंक पुरुषों के समान कहना इसके समान दूसरी मूर्खता नहीं हो सकती है। संसार में भी प्रसिद्ध है कि मणि-मन्त्र- औषधि- विद्या-तप इनका अचिंत्य प्रभाव है।

चिंतामणि और दूसरे- २ पत्थर समान कैसे हो सकते हैं! तारागण और सूर्य इनमें समता कैसे हो सकती है! इसलिये अनेक प्रकार की वेदनाओं के नाश करने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान के होने पर केवली के आहार नीहार मानना अनंत संसार का कारण है। प्राणियों का जिन्दा रहना तो आयुकर्म के आधीन है, केवल आहार करने मात्र से

नहीं है। क्योंकि भोगभूमि मनुष्यों का शरीर तीन कोश प्रमाण है, तीन पल्य की उनकी आयु होती है और तीन दिन बीत जाने के बाद बेर प्रमाण आहार ग्रहण करते हैं। एवं अण्डे में पक्षी अपनी माता के उदर की उष्मा ही से वृद्धि को प्राप्त होते हैं, क्योंकि पक्षियों के उज्जाहार होता है, एकेन्द्रिय के जल पवनादि ही आहार हैं। लौकिक जन भी कितने ही जीवों के पवन का ही आहार कहते हैं, नारकियों कें कर्मों के रस का भोगना ही आहार है। देवों के मानसिक आहार है उसी तरह केवली जिन के नोकर्म पुद्गलो का आहार है।

यदि अन्य मनुष्यों की तरह केवली जिनके वेदनीय के उदय से कवलाहार मानते हो तो सयोगी जिनकें द्रव्य मन का सद्भाव होने से मन के विकल्प भी मानो, तथा द्रव्येन्द्रियां विद्यमान हैं इससे इन्द्रिय जनित ज्ञान भी मानो और शुक्ल लेश्या मौजूद है इसलिये कषाय के मानने का भी प्रसंग आएगा! अरे जिस मुनि को कायबल ऋद्धि हो जाती है उसके भी ऐसा सामर्थ्य प्रगट हो जाता है जिससे तीनों लोकों को चलायमान कर सकता है, फिर केवली के सामर्थ्य की तो कहना ही क्या है और सुनो भक्षण करने की इच्छाको वुभुक्षा कहते हैं सो भगवान के मोहनीय कर्म का अभाव हो गया तब भोजन की इच्छा कैसे हो गई? अगर मोहनीय कर्म के अभाव होने पर भी इच्छा होती है ऐसा मानते हो तो स्त्री भोगने का सद्भाव भी मानना पड़ेगा तब वीतरागता को जलांजलि देनी पड़ेगी।

यहां ऐसा प्रश्न हो सकता है कि केवली जो भोजन करते हैं सो नित्य एक बार करते हैं कि अनेक बार करते हैं? एक दिन दो दिन के आंतरे से करते हैं कि छह महीना वरस दिन के आंतरे से करते हैं? उनके

कितने दिनों के अंतराल में भोजन होता है उसका प्रमाण तो कहो? यदि प्रमाण कहोगे तो उनकी शक्ति का उतना ही प्रमाण आया फिर अनंत शक्ति कहां रही? दूसरे भोजन करते हैं सो क्षुधा की वेदना करते हैं अथवा रसनेंद्रिय स्वाद के लिये करते हैं? जो ऐसा कहोगे कि क्षुधा की वेदना नहीं सही जाती इससे भोजन करते हैं तो क्षुधा के समान दुःख नहीं फिर केवली के अनंत सुख कहना व्यर्थ हैं। यदि रसना इन्द्रिय के स्वाद के लिए करते हैं तो अतीन्द्रियात्मक स्वाधीन सुख का अभाव आवेगा जब भोजन के आधीन ही सुख रहेगा फिर स्वाधीन परमेश्वरपने का अभाव हो जावेगा। फिर प्रश्न होता है कि केवली जिन जिस भोजन का आस्वाद लेते हैं वह केवलज्ञान से आस्वादते हैं या इन्द्रियों से आस्वादते हैं! यदि केवलज्ञान से स्वादते हैं तों दूरवर्ती सारे तीनों लोकों में रहने वाले आहार का भी आस्वाद कर सकते हैं फिर कवलाहार से क्या प्रयोजन है? यदि रसनेन्द्रिय से आहार का स्वाद लेते हैं तो केवली के इन्द्रियजनित मतिज्ञान का प्रसंग आवेगा तब तो केवलज्ञान का अभाव ही हो जावेगा। एक ये भी प्रश्न खड़ा होता है कि केवली त्रैलोक्य में रहने वाले संपूर्ण जीवों के मारण, ताडन, त्रासन, मांस, रुधिरारादिकों को प्रत्यक्ष देखते हैं फिर भोजन का अंतराय कैसे टालते होंगे? अल्प शक्ति का धारक श्रावक भी ऐसे घोर कर्मों को देख लेवे तो अन्तराय माने फिर केवली कैसे भोजन कर सकते हैं? भोजन की इच्छा मात्र से सप्तम गुणस्थान का धारक तथा श्रेणी में रहने वाला साधु छट्टे गुणस्थान को प्राप्त करता है और प्रमादी कहलाता है फिर भोजन करने वाला केवली प्रमादी किस कारण नहीं हो सकता है? यह बड़ा आश्चर्य है। ध्यान रूपी अग्नि जला दिये हैं चार घातिया कर्म जिनने और अनन्त

बाधा रहित ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य जिन के प्रगट हो गये हों ऐसे भगवान केवली के अन्तराय कर्म के अत्यन्त अभाव से निरन्तर समय समय शुभ सूक्ष्म पुद्गलों का संचय होने से औदारिक शरीर कवलाहार बिना ही अनन्त शक्ति को धारण करता है इसलिए अधिक क्या लिखा जाय केवली के आहार की असत्य कल्पना कर मोहनीय कर्म की सत्तर कोडाकोडी सागर की स्थिति निरन्तर बांधना उचित नहीं है!

नाश किया है घातिया कर्म का चतुष्टय जिनने ऐसे जिन भगवान वेदनीय कर्म का सदभाव होने पर भी द्रव्य कर्म के सदभाव से एकादश परीषह नहीं होती है, क्योंकि मोहनीय कर्म की सहायता बिना वेदनीय कर्म क्षुधादिक वेदनाओं को नहीं कर सकता है। यद्यपि वेदना नहीं करें तो भी वेदनीय के कर्म परमाणु के सदभाव से उपचार से ग्यारह परिषह कही गई हैं जैसे सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के अभाव होने पर सकल पदार्थों का अवभासक ऐसे केवलज्ञान के प्रगट होने पर भी केवली भगवान के उपचार से ध्यान कहा जाता है। भगवान के सकल पदार्थ एक साथ प्रत्यक्ष हुए तब एकाग्र चिन्ता निरोध ध्यान- एक पदार्थ का अवलम्बन कर चिन्तन कहां रहा? तो भी ध्यान का फल कर्म के नाश होने के सद्भाव से उपचार से ध्यान कहा है।

अथवा इस ही वाक्य से केवली जिन के ग्यारह परीषह नहीं होती है क्योंकि परीषह तो उपचार से कहे गये हैं सो उपचार तो झूठा ही माना गया है। जैसे किसी बालक में क्रूरपना शूरपना देखकर उपचार से सिंह कह दिया, तीक्ष्ण नख दांत कपिलनयन केशावली को धारण करने वाला सिंह नहीं है परंतु सिंह का कोई एक धर्म देखकर सिंह कहना सो उपचार ही है। लौकिक जन भी कहते हैं- यह वस्त्र, गहना

मेरा है, यह देश मेरा है, यह राज्य हमारा है, यह नगर हमारा है, सो ऐसा कहना उपचार ही है, उपचार झूठा ही होता है। इसलिये जिनेन्द्र के उपचार से कहे गये ग्यारह परीषह नहीं होते है! छट्टे गुणस्थान से नवमें गुणस्थान तक सब परीषह हो सकती हैं। ज्ञानावरण के उदय होने पर प्रज्ञा और अज्ञान ऐसे दो परीषह होते हैं। दर्शन मोह के उदय से अदर्शन और अंतराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होती है। चारित्र मोहनीय के उदय से नाग्न्य, अति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ऐसी सात परीषह होती हैं। बाकी की ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होती हैं। परंतु एक साथ किसी जीव के परिषह आयें तो उन्नीस तक हो सकती हैं इससे ज्यादा नहीं। इस प्रकार परीषहजय का वर्णन किया।

अब चरित्र का वर्णन किया जाता है जो संवर और निर्जरा का साक्षात्कारण है-

जिन क्रियाओं से संसार के कारणभूत राग द्वेषादि परिणामों की निवृत्ति होती है तथा आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है उसे चारित्र कहते हैं। सो ही बतलाया गया है। कि व्रतों का धारण करना, समितियों का पालना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, अशुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति रूप दंडों का त्याग करना, पांचों इन्द्रियों को उनके विषयों से विरक्त करना अर्थात् इन्द्रियों का जीतना जिसकें होय उसके संयम का सद्भाव जानना चाहिये।

सच्चा चारित्र तो उपयोग की चंचलता के नाश होने पर अपने रूप में स्थिरता हो जाना ही है। परन्तु व्रताचरणादि जितने हैं वे सब व्यवहार चारित्र हैं, सो व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का कारण है। आचार्यों ने

चारित्र के पांच भेद बतलाये हैं जैसा कि परम पूज्य प्रातःस्मरणीय पूज्य पाद आचार्य प्रवर उमास्वामीजी ने मोक्षशास्त्रमें बतलाया है कि- "सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धिसूक्ष्म सांप राय-यथाख्यातमिति चारित्रम्" अर्थात् चारित्र पाँच प्रकार का होता है १) सामायिक २) छेदोपस्थापना ३ परिहारविशुद्धि ४) सूक्ष्म सांपराय और ५) यथाख्यात। इनका स्वरूप इस प्रकार हैं-

अभेदरूप से संपूर्ण सावद्य योग का जिसमें त्याग हो उसको सामायिक चारित्र कहते हैं। पर पदार्थों में ममत्व भाव होने से राग द्वेष की प्रवृत्ति होती है और राग द्वेष के सद्भाव में उपयोग दूषित रहता है ऐसी हालत में आत्मा में समता भाव नहीं रह सकता है, समता भाव का होना ही सामायिक है सामायिक ही शुद्ध चिद्रूप के दर्शन होने में कारण है। सामायिक चारित्र का पालन करने वाला ही अपने आत्मा के संमुख होता है। ऐसे आत्मा को जो पर पदार्थों में उलझा रहता हैं कभी भी आत्मरूप का अवलोकन नहीं हो सकता है, इसलिए पर पदार्थों में से अपने उपयोग को हटाकर स्व स्वरूप में स्थिर करना ही सच्चा सामायिक चारित्र है।

कोई व्यक्ति सामायिक संयम रूप होकर फिर उससे चिगकर सावद्य व्यापार रूप होकर बाद में प्रायश्चित्त से सावद्य व्यापार से उत्पन्न दोष को छेदकर आत्मा को व्रत धारणादि रूप संयम में धारण करे सो छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा व्रत समिति गुप्ति आदि का भेद रूप चारित्र ही छेदोपस्थापना है।

प्राणियों की पीड़ा का परित्याग करने से विशेष शुद्धता जिसकें हो सो परिहारविशुद्धि चारित्र है। ऐसा परिहार विशुद्धि चारित्र किसके होता

है? इस बात को कहते हैं- जन्म से तीस वर्ष प्रमाण जिसकी अवस्था हो और जन्म दिन से लेकर सर्व काल जो सुखी रहा हो, तथा तीस वर्ष पीछे जिन दीक्षा ग्रहण कर श्री तीर्थंकर के चरणारविन्द सेवन करे और तीर्थंकर के चरणों के समीप प्रत्याख्यान नामक नवमां पूर्व पढे और जीवों का विरोध, जीव के प्रगट होने का काल जीवों का प्रमाद, उत्पत्ति योनि, देश, द्रव्य स्वभाव के विधान का जानने वाला हो, प्रमाद रहित हो, बड़ी शक्ति का धारक हो, जिसके कर्मों की बड़ी भारी निर्जरा हो, दुर्द्धर चर्या का आचरण करने वाला हो, तीन सन्ध्याओं को छोड़ कर अन्य अवसर में दो कोश प्रमाण विहार करने वाला हो रात्रि में विहार न करने वाला हो, वर्षा काल का नियम रहित हो, ऐसे साधु के परिहार विशुद्धि संयम होता है। अन्य के नहीं होता है। इनके शरीर से जीवों की विराधना नहीं होती है। परिहारविशुद्धि चारित्र का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। छट्ठे सातवें इन दोनों गुणस्थानों में ये संयम होता है यदि अन्तमुहूर्त में गुणस्थान पलट जाए तो संयम छूट जाता है। उत्कृष्ट काल अड़तीस वर्ष घाट कोटि पूर्व है[1]। किस प्रकार है सो ही बतलाया जाता है- उत्पत्ति दिन से तीस वर्ष बाद दीक्षित होकर आठ वर्ष तीर्थकरों के निकट रह कर पीछे परिहार विशुद्धि उत्पन्न हो, आयु कोटि पूर्व की हो इसलिए ऊपर कहे हुए विधान अनुसार अड़तीस वर्ष कम आयु जाननी चाहिये।

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में सूक्ष्म सांपराय चारित्र होता है- इस चारित्र वाला सूक्ष्म और स्थूल हिंसा के त्याग में असावधान नहीं होता।

1- अड़तीस वर्ष कम एक कोटि पूर्व

जिनका उत्साह अखंडित होता है, सम्यग्दर्शन सम्प ज्ञान रूपी महापवन से संधुक्षित जो प्रशस्त परिणामरूपी अग्नि की शिखा उससे दग्ध किया है कर्मरूपी ईंधन जिन्होंने ध्यानविशेष के द्वारा शिखारहित किया है कषाय रूप विष का अंकुर जिनने, नाश के संमुख किया है सूक्ष्म मोहरूपी बीज जिन्होंने, ऐसे साधु के सूक्ष्मसांपराय चारित्र होता है।

सम्पूर्ण उपशांत और क्षीणमोह के होने से यथाख्यात चारित्र होता है- जैसा आत्मा का स्वभाव है उसी प्रकार सम्पूर्ण मोहनीय के उपशम से वा क्षय से प्रगट होता है इसीलिये यथाख्यात चारित्र कहलाता है वह उपशांतकषाय, क्षीण कषाय, सयोगकेवली वा अयोगकेवली जिनकें होता है सामायिक चारित्र और परिहारविशुद्धि चारित्र तो छट्टे गुणस्थान से नवमें गुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र छट्टे सातवें गुणस्थान में ही होता है। सूक्ष्मसांपराय चारित्र दशवें गुणस्थान में होता है और यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। इतना विशेष और जानना कि-सामायिक छेदोपस्थापना की जघन्य विशुद्धता की, लब्धि अल्प है उससे परिहार विशुद्धि चारित्र की जघन्य विशुद्धता अनंत गुणी है, उससे परिहारविशुद्धिता की उत्कृष्ट विशुद्धिता अनंत गुणी है, उससे सामायिक छेदोपस्थापना की उत्कृष्ट विशुद्धिता अनंत गुणी है, उससे यथाख्यात चारित्र की संपूर्ण विशुद्धता अनंत गुणी है। उसमें हीनाधिकता नहीं होती है। इस प्रकार चारित्र गुण का वर्णन किया।

आत्मा रत्नत्रय रूप है रत्नत्रय को छोड़कर आत्मा कोई भिन्न चीज नहीं है। क्योंकि रत्नत्रय आत्मा को छोड़ कर अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता है, सम्यग्दर्शन सम्यक ज्ञान के हो जाने पर भी जब तक चारित्र

गुण की पूर्णता नहीं हो जाती है जीव का निज स्वरूप व्यक्त नहीं हो पाता है जितने भी मोक्षगामी हुए है सभी ने चारित्र पालन करके ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति की है। वैराग्य मणिमाला में चारित्र पालने की प्रेरणा निम्नलिखित रूप से की है-

जीव जहीहि धनादिकतृष्णां मुंच ममत्वं लेश्यां कृष्णां ।
धर चारित्रं पालय शीलं सिद्धिवधूक्रीडावरलीलं ॥२॥

[श्री चंद्र कवि विरचित (श्रुतसागरसूरि के शिष्य) 'वैराग्य मणिमाला']

भाव ये है कि हे भव्यात्मन्! तू धनादिक की तृष्णा को छोडकर, पर पदार्थ में ममत्व का त्याग कर कृष्ण लेश्या रूप परिणामों का परिहार कर और मुक्ति रूपी स्त्री के साथ क्रीड़ा करने के लिए शील का पालन कर तथा चारित्र को धारण कर फिर दूसरी तरह से प्रेरणा की गई है कि-

भ्रातर्मे वचनं कुरु सारं चेत्त्वं वांछसि संसृतिपारं ।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधं त्यज भज त्वं संयमवरबोधं ॥६॥

[श्री चंद्र कवि विरचित (श्रुतसागरसूरि के शिष्य) 'वैराग्य मणिमाला']

हे भाई यदि तू संसार समुद्र के पार जाना चाहता है तो मेरे सारभूत वचनों के अनुसार कार्य कर, वह इस प्रकार कि मोह को छोड़कर तथा वासना और क्रोध का भी त्याग कर, संयम (चारित्र) और सम्यग्ज्ञान को धारण कर।

मतलब ये है कि निज स्वरूप की प्राप्ति होने में बाधक काम क्रोधादिक हैं। इन्हीं काम क्रोधादिक से चारित्र पालने में शिथिलता होती है। इसीलिये आचार्य इनके त्याग करने का उपदेश देते हैं। संसारी प्राणियों ने मोह के वशीभूत होकर स्वात्मा चिदानन्द का तो

त्याग किया है और इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति में सुख माना है। आत्मा का रूप जो ज्ञान है उसका आनन्द जिसको आने लगता है उसको इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति का आनंद नीरस मालूम होने लगता है। धन्य हैं वे जीव जो निजानंद में लय होते है। ज्ञानी आत्मा ही सच्चे स्वरूप को प्राप्त करता है। एक अनुभवी विद्वान ने लिखा है कि 'एक ज्ञानी आत्मा सब प्रकार के विकारों को बन्द करके सिर्फ आत्मा के स्वरूप के विचार में ही मग्न रहता है, क्योंकि श्री गुरु के उपदेश से उसको ऐसा ही अनुभव हो जाता है कि सच्चा सुख संसार के किसी पदार्थ में न होकर आत्मा में ही है। संसार में छह द्रव्य हैं उनमें धर्मादिक पांच द्रव्य तो जड़ हैं एक जीव ही चैतन्य गुण युक्त है। जहां चेतना का विलास होता है वहीं ज्ञान का विलास होता है। ज्ञान स्वभाव का अनुभव करना ही सच्चे सुख के बाद प्राप्त करने का उपाय है। ये संसारी प्राणी कर्मचेतना और कर्मफल चेतना के अनुभव को करता हुआ निरन्तर राग द्वेष मोह रूप मलीन भावों का ही स्वाद ले रहा है इसी से इसको वीतराग आनंद का स्वाद नहीं आता। राग सहित ज्ञानोपयोग स्वाद से राग का, द्वेष सहित ज्ञानोपयोग से द्वेष का, मोह सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से मोह का काम सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से काम का, भय सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से भय का स्वाद आता है। निर्मल जल के पीने से जैसे जल का असली स्वाद आता है उसी तरह वीतरागता सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से आत्मा के सच्चे सुख का स्वाद आता है।

इसलिये सहजानंद की खोज करने वाला ज्ञानी संसार के तमाम पदार्थों से नाता तोड़कर अपने ही आत्म स्वरूप से नाता जोड़ता है, अपने आत्मा को ही सार वस्तु समझता है। अपने आत्मा को ही

क्रीड़ास्थल बनाता है। जिसने सहजानंद का पता पाया है। सहजानंद के पाने का मार्ग उपलब्ध किया है, वही सच्चा सम्यग्दृष्टि है वही श्रावक है, वही साधु। जो सहजानन्द को पाने के लिय पूर्ण प्रयत्नशील हो जाता है और इस प्रकार की दृढ़ भावना पाता है कि मैं कर्मोदय की सब आपत्तियों को सहर्ष सहन कर लूंगा पर सहजानंद के पूर्ण लाभ के बिना कभी भी चैन न लूंगा ऐसा व्यक्ति आत्मा में विश्रांति पाता हुआ वैराग्य के पर्वत पर चढ़ता हुआ गुणस्थान क्रम से विरोधी कर्म शत्रुओं का क्षय कर अर्हंत परमात्मा हो जाता है। फिर सिद्धालय में जाकर सिद्ध रूप से स्थिरता से निवास करता हुआ सदा सहजानंद का उपभोग करता रहता है। इसलिये एक सत्य खोजी का कर्तव्य है कि वह सत्य का अनुयायी होकर चले और अपने द्वारा ही सहजानंद को पाकर अनादि कालीन तृष्णा को शमन कर परम सन्तोषी हो जावे। ज्ञान दर्शन गुणधारी आत्मा अनादि काल से अपने ज्ञान दर्शन का लक्ष्य उन पदार्थों को बना रहा था जिनके भोग करने से राग भाव द्वारा विषय सुख का भान होता था, परन्तु कभी भी तृष्णा का दाह शमन नहीं कर पाता था इससे हर समय अनेक इच्छाओं के वशीभूत होकर आकुलित हो रहा था परन्तु श्री गुरु के प्रताप से उसको सहजानन्द का पता चल गया और उसको ऐसा निश्चय हो गया कि यह सहजानन्द मेरे ही आत्मा में पूर्ण भरा हुआ है। सो यह मेरे ही आत्मा का स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा के साथ जैसी-जैसी रुचि बढ़ती है यह अपने उपयोग को सम्पूर्ण परपदार्थों से इन्द्रियों के विषय भोगों से संकुचित करता है और उस उपयोग को सहजानन्द के धनी निजात्मा द्रव्य पर जोड़ता है। इसी का नाम योग या ध्यान है। आत्मीक ध्यान के प्रकाश से आत्मस्थ होकर यह ज्ञानी जीव

सहजानन्द को पालता है, फिर उस निजानन्द मे ऐसा आसक्त हो जाता है जैसे भ्रमर कमल की बास में अनुरक्त हो जाता है।

सहजानन्द स्वभाव को प्रकाश करने वाला है और विषयानन्द विभाव को बढ़ाने वाला है। इस प्रकार की प्रतीति का झलकाव जिसके भीतर हो जाता है वही महात्मा सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि ही तत्त्व का विचार करने वाला होता है, सम्यग्दृष्टि परपदार्थों में कभी ममत्व बुद्धि नहीं करता है। वह तो ऐसा विचार करता है कि मोह को उत्पन्न करने वाले ये माता,पिता, पुत्र, स्त्री, कुटुम्बी जन आदि मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूं ये कुटुम्बी जन तो मिलकर दुख देने [वाले] हैं[1]। हे आत्मन् जो इनमें निजत्व की बुद्धि करता है उसका दीर्घ संसार होता है। ये धनादिक सब पुद्गल के हैं। ये पुद्गल जो जड़ हैं, अज्ञानी हैं आत्मा के रूप से बिलकुल विपरीत हैं। वह मेरा कैसे हो सकता है। ज्ञानी तो ऐसा विचार करता है-

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किञ्चन ॥158॥

[श्री नागसेन मुनि विरचित 'तत्त्वानुशासन']

अर्थात् ये शरीरादिक जो पुद्गल के बने हुए हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं, और मैं भी वास्तव में इनसे भिन्न ही हूं। न मैं इनका कुछ हूं और न ये मेरे कुछ हैं। सम्यग्दृष्टि को तो जब तक मुक्ति न हो परद्रव्यों से हटने की ही भावना करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से फिर परद्रव्यों में

1- यह शब्द पूर्व में प्रकाशित प्रति में नहीं था, अर्थ समझना सुगम हो इसलीए जोड़ा गया है।

प्रवृत्ति न हो सकेगी। इसलिये शनैः शनैः मुक्तिपद की प्राप्ति हो जायगी तत्त्वज्ञानी को तो ऐसा विचार करना चाहिये-

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥27॥

[श्रीमद् पूज्यपाद स्वामी विरचित 'इष्टोपदेश']

अर्थात्- मैं एक हूं, ममतारहित, शुद्धज्ञानी और बड़े-बड़े योगियों के द्वारा जानने लायक हूं। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं वे सब मुझसे सर्वथा बाह्य वा भिन्न हैं। ऐसे ऐसे विचार करने वाला विवेकी किसी समय भी नवीन-नवीन कर्मों से नहीं बंध सकता है। उसके तो कर्मों की निर्जरा होकर हमेशा को आत्म शुद्धि हो सकती है।

अत एव हे भव्यों ! आप भी तत्त्व का विचार करो। भगवान जिनेन्द्र के वचनों पर विश्वास लाओ। इन सांसारिक पदार्थों से जो तुम्हारी आत्मा से बिलकुल भिन्न हैं ममत्व भाव छोड़कर अपने स्वभाव का विचार करो, उसकी प्रतीति करो, उसकी जानकारी करो तथा उसी में लय रहो जिससे तुम्हारा भी कल्याण हो।

समाप्तोऽयं ग्रंथः

आचार्य श्री 108 सूर्यसागर जी महाराज द्वारा संग्रहीत एवं विरचित

ग्रंथो की नामावली

1) श्रावकधर्मप्रकाश - सामान्य रूप से
2) श्रावकधर्मप्रकाश - विशेष रूप से

3) संयमप्रकाश ग्रन्थ
   क. मुनिधर्म का पांच किरणों में वर्णन
   ख. श्रावक धर्म का पांच किरणों में वर्णन

4) अध्यात्म ग्रन्थ संग्रह - आठ ग्रन्थों का समुदाय कर के उनकी बालबोधनी टीका, उन आठ ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं
   क. तत्त्वानु-शासन
   ख.वैराग्य-मणिमाला
   ग.समाधि शतक
   घ.परमानन्द स्तोत्र
   ड .स्वरूप संबोधन
   च. इष्टोपदेश
   छ.सामायिक पाठ
   ज. मृत्यु महोत्सव

5) आत्म साधन मार्तण्ड - आत्म अनुभव का उपाय

6) आत्मसद्बोध मार्तण्ड - सामायिक आदि का स्वरूप संग्रह (संभवत: इसी का दूसरा नाम आत्मबोध मार्तण्ड है)

7) अभक्ष्य विचार मार्तण्ड - 22 अभक्षों सहित द्विदल का स्वरूप पूर्ण विधि विधान सहित

8) सद्बोध मार्तण्ड - निगोद से निकलना तथा व्यवहार राशी व चतुर्गति देव पर्याय सहित मोक्ष का स्वरूप

9) निर्जरामार्तण्ड - कर्म की सत्ता, बंध, उदय, उपशम आदि 10 करणों सहित स्वरूप (संभवत: इसी का दूसरा नाम निर्जरासार है)

10) निजानंद मार्तण्ड - शुद्धात्मा की व्यवस्था कैसे और क्यों करने रूप समझावट तथा आत्मा का शुद्ध अनुभव का स्वरूप गुणस्थान मार्गणा सहित

11) विवेक मार्तण्ड - संसारी जीवों को किस प्रकार अपनी आत्मा का अनुभव कर अपनी आत्मा को बलवान बनाना चाहिए उसका कर्तव्य यानी उपाय

12) स्वभावबोध मार्तण्ड - आत्मा किस प्रकार परीषह सहकर अपना स्वरूप निजानंद पद कैसे प्राप्त कर सके

13) प्रबोध मार्तण्ड प्रथम भाग - प्रश्न संसारी आत्मा संसार के व्यवसाय से कैसे छुटकारा पावे उसकी व्याख्या

14) प्रबोध मार्तण्ड द्वितीय भाग - उतर, संसारी आत्मा संसार

की व्यवस्था में रहते हुए संसार के कारणों से इस प्रकार भावना से पृथक हो सकता है।

15) आर्षमार्ग मार्तण्ड - इसमें पंचामृत अभिषेक व प्रतिमा जी पर केसर पुष्प नहीं चढ़ाना तथा स्त्रिया भगवान का स्पर्श न करे चंवर रात्रि पूजनादि का निषेध

16) आवश्यक मार्तण्ड - पाक्षिक श्रावक से लेकर ग्यारह प्रतिमा तक का तथा समाधिमरण करने का खुलासा विधि विधान सहित स्वरूप

17) लावनी संग्रह - पुरातन लावनियों का संग्रह

18) विविध संग्रह - पूजन मुनियों की आहार विधि वगैरह

19) नित्य पाठ गुटका - स्तोत्र तथा सामायिकादि

20) परम अध्यात्म मार्तण्ड - शुद्धात्म द्रव्य का कथन

21) तत्त्वालोक मार्तण्ड - द्रव्य के कौन कौन से गुण और पर्यायें हैं तथा परिणमनशीलता का यथार्थ स्वरूप

22) स्तोत्र मार्तण्ड - विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह

23) प्रभात प्रार्थना - प्रातः बोलने की स्तुति रूप कथन

ॐ